जीवन और मृत्यु

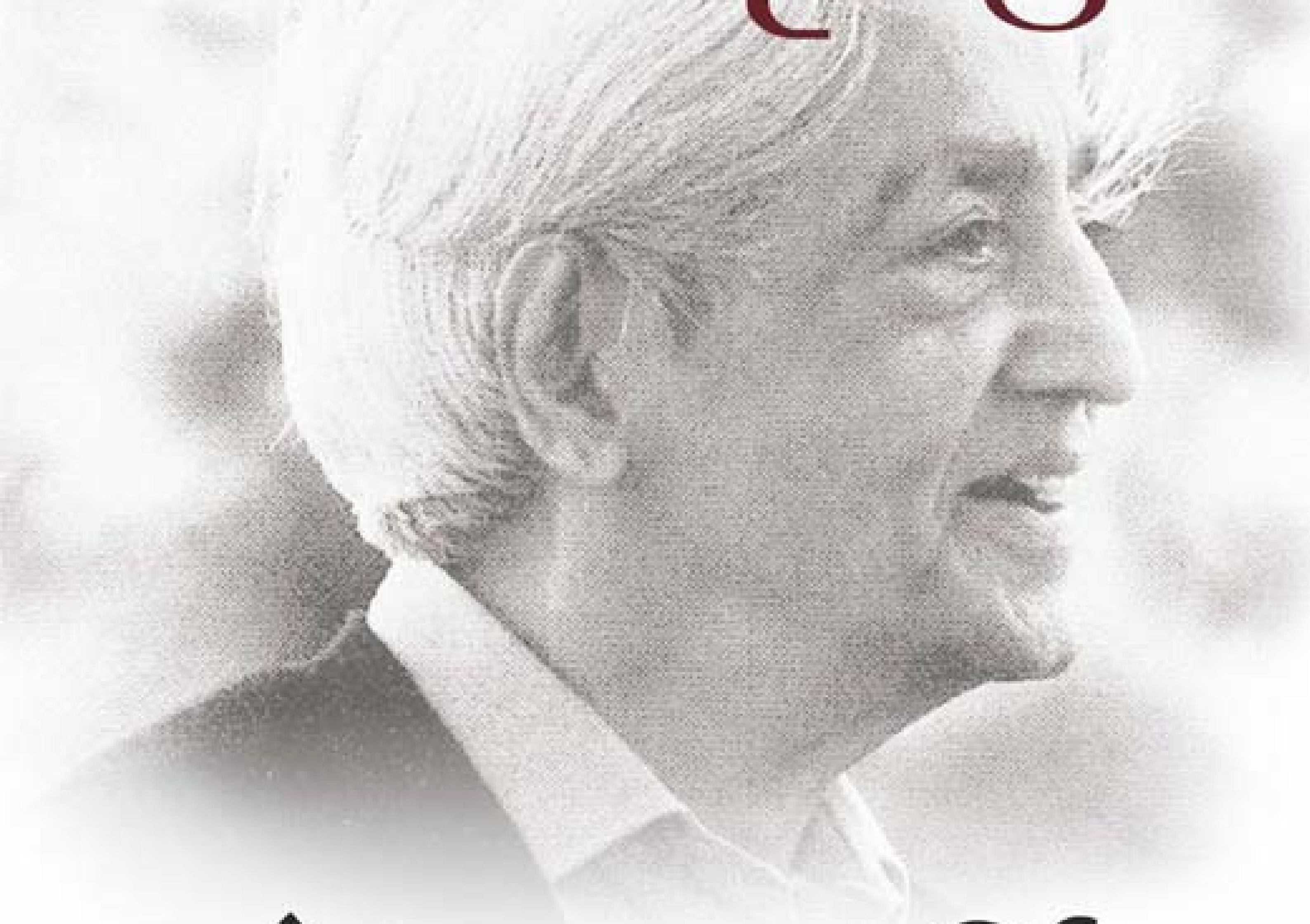

जे.कृष्णमूर्ति

जीवन और मृत्यु

जे. कृष्णमूर्ति

राजपाल

अनुवादक
अचलेश चन्द्र शर्मा
प्रथम संस्करण : 2009

ISBN : 978-81-7028-816-9
Jeewan Aur Mrityu
Hindi Translation of 'Living And Dying' by J. Krishnamurti
Translated by : Achalesh Chandra Sharma

For the original English Text
© Krishnamurti Foundation Trust Ltd. Brockwood Park,
Bramdean Hampshire S024 OLQ England
&
© Krishnamurti Foundation of America,
P.O. Box No. 1560 Ojai, California 93024 U.S.A.
For the Hindi Translation
© Krishnamurti Foundation India
Vasanta Vihar, 124-126,
Greenways Road. Chennai-600 028

राजपाल एण्ड सन्ज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली-110006
Website : www.rajpalpublishing.com
e-mail : mail@rajpalpublishing.com

“मृत्यु का घटित होना अपने आप में कितनी अद्भुत बात है—बिल्कुल जीवन की ही तरह अद्भुत। जीवन से कुछ भी बाहर नहीं है। दुख, पीड़ा, यंत्रणा, आनंद, बेतुकी धारणाएं, स्वामित्वभाव, डाह, प्रेम, अकेलेपन के संताप का दर्द—सभी कुछ तो जीवन में समाया है। और मृत्यु को समझने के लिये हमें जीवन को इसकी समग्रता में समझना होगा, इसके किसी एक अंश को जी लेने से बात नहीं बनेगी—जैसा करने के हममें से अधिकतर लोग आदी हैं। और हां, जीवन की गहराई के स्पर्श में ही मृत्यु की समझ निहित है क्योंकि ये दोनों अलग नहीं हैं।”

प्राक्कथन

जिड्डू कृष्णमूर्ति का जन्म 1895 में भारत में हुआ था। 13 वर्ष की आयु में ही इन्हें थियोसोफिकल सोसायटी द्वारा अंगीकार कर लिया गया था जिसने इन्हें उस विश्वगुरु का वाहक होना मान लिया था जिसके अवतरण का वह प्रचार करती रही थी। कृष्णमूर्ति को शीघ्र ही एक सशक्त, अडिग और वर्ग-श्रेणी के दायरे से परे बेमिसाल शिक्षक के रूप में उभरना था जिसकी वार्ताएं और लेख किसी भी धर्म विशेष से संबद्ध न होकर, पूर्व या पश्चिम के न होकर, पूरे विश्व के लिये हों। 1929 में इस मसीही छवि को दृढ़तापूर्वक तोड़ते हुए अपने चारों ओर बनाये गये विशाल और धनसंपन्न संगठन को उन्होंने बड़े ही नाटकीय ढंग से भंग कर दिया और सत्य को एक ऐसी 'लीक रहित भूमि' घोषित कर दिया जिस तक किसी गढ़े गये धर्म, दर्शन अथवा पंथ द्वारा नहीं पहुंचा जा सकता।

इसके बाद जीवन पर कृष्णमूर्ति गुरु की पदवी को आग्रहपूर्वक अस्वीकार करते रहे जिसे लोग उन पर किसी न किसी तरह से थोपने का प्रयास किया करते थे। विश्व भर से विशाल श्रोता-समूह उन्हें सुनने के लिये खिंचे आते रहे, परंतु उन्होंने कभी कोई सिद्ध होने का दावा नहीं किया, कोई शिष्य नहीं बनाया और सदा ऐसे बोलते रहे जैसे एक व्यक्ति दूसरे से बातचीत किया करता है। उनकी शिक्षा का केंद्रबिंदु यह ठोस यथार्थज्ञान था, सीधा-स्पष्ट बोध था कि केवल वैयक्तिक चेतना में परिवर्तन लाकर ही समाज में आमूल परिवर्तन लाया जा सकता है। अपने आप को देखने-समझने पर और धर्म व राष्ट्र के प्रतिबंधी एवं विभाजनकारी पूर्व-प्रभावों को पहचानने-जानने पर उन्होंने सदा विशेष बल दिया। कृष्णमूर्ति उन्मुक्तता की तत्काल आवश्यकता की ओर तथा "मस्तिष्क के उस विशाल व्योम, जिसमें अकल्पनीय ऊर्जा रहती है" की ओर सदैव संकेत करते रहे। लगता है जैसे यही उनकी अपनी रचनात्मकता का स्रोत था और विशाल विविधता वाले जनमानस को स्पर्श कर पाने वाले गहन प्रभाव की कुंजी भी। नब्बे वर्ष की आयु में हुए अपने देहांत तक कृष्णमूर्ति पूरे विश्व में वार्ताएं करते रहे। उनकी वार्ताओं, संवादों, दैनिकी और पत्रों को साठ से अधिक पुस्तकों में संग्रहीत किया गया है। उनकी शिक्षाओं के उस विशाल संग्रह से किसी न किसी खास विषय को लेकर पुस्तकों की शृंखला का संकलन किया जा रहा है। प्रत्येक पुस्तक किसी एक खास विषय पर प्रकाश डालती है जो हमारे दैनिक जीवन के लिये प्रासंगिक भी होता है और महत्त्वपूर्ण भी।

एक

मैं ऐसे प्रसंग को लेकर चर्चा करना चाहूँगा जिसमें ज़िंदगी की संपूर्णता समाहित है, जो टुकड़ों में नहीं बंटी है, बल्कि जिसमें मानव के संपूर्ण अस्तित्व के प्रति एक व्यापक दृष्टिकोण है। मुझे लगता है कि इसमें अधिक गहरे पैठने के लिये हमें सिद्धांतों, विश्वासों और मतांधता की जकड़न से निजात पानी होगी। अधिकांश लोग मन की ज़मीन को निरंतर जोतते तो रहते हैं परंतु उसमें कभी बीज बोते नहीं लगते। हम विश्लेषण करते रहते हैं, विमर्श करते रहते हैं, विषयों को तार-तार कर देते हैं परंतु जीवन की समूची गतिविधि को नहीं समझते।

यदि हमें जीवन की समूची गतिविधि का व्यापक अर्थ जानना है तो मेरे विचार से हमें तीन चीज़ों को गहराई से समझना होगा। वे हैं समय, दुख और मृत्यु। समय को समझने के लिये, दुख के संपूर्ण अभिप्राय को भलीभांति जान लेने के लिये और मृत्यु के साथ रहने-जीने के लिये प्रेम की निर्मल, उज्ज्वल पृष्ठभूमि चाहिये। प्रेम कोई नज़रिया नहीं है और न ही कोई आदर्श है। आप या तो प्रेम करते हैं या नहीं करते। इसे सिखाया नहीं जा सकता। इसका कोई पाठ भी नहीं होता जो बताये कि प्रेम कैसे किया जाये, और न ही ऐसी कोई पद्धति है जिसका प्रतिदिन अभ्यास करके आप जान पायें कि प्रेम क्या होता है। परंतु मेरे विचार से जब कोई समय के तात्पर्य को, दुख की अद्‌भुत गहनता को और मृत्यु के साथ आने वाली विशुद्धता को वास्तव में समझ लेता है तब स्वाभाविक रूप से, सरलता से और स्वतः ही प्रेम उजागर हो जाता है। अतः हमें किसी सिद्धांत या कल्पना के आधार पर नहीं बल्कि तथ्य के आधार पर समय के स्वभाव को, दुख के गुणधर्म व उसके ताने-बाने को और मृत्यु नामक इस अद्‌भुत घटना को देखना-समझना होगा। ये तीनों कोई अलग-अलग मुद्दे नहीं हैं। यदि हम समय को समझ लेते हैं तो हम यह भी समझ जायेंगे कि मृत्यु क्या होती है, और यह भी कि दुख क्या होता है। परंतु जब हम समय को दुख तथा मृत्यु से पृथक कुछ मान बैठते हैं और पृथकतः ही विचार करते हैं तब हमारा देखने-समझने का तौर-तरीका टुकड़ों में बंट जाता है और इसलिये हम प्रेम की अद्‌भुत सुंदरता और सक्षमता को, इसके व्यापक अर्थ में कभी नहीं समझ पाते।

हम समय के बारे में विचार करने जा रहे हैं—किसी अमूर्त धारणा के रूप में नहीं बल्कि वास्तविक, तथ्यात्मक रूप में—एक कालावधि के रूप में और अस्तित्व की निरंतरता के रूप में। एक समय तो होता है कालक्रमिक—घंटों और दिनों में, जो लाखों, करोड़ों वर्षों तक जाता है। कालक्रम वाले इसी समय की उपज है हमारा मन, जो हमारे तमाम क्रियाकलाप का आधार है। अपने अस्तित्व की निरंतरता के रूप में यह मन समय का ही परिणाम है और इसी निरंतरता के माध्यम से मन को परिपूर्ण और परिष्कृत करना ही प्रगति माना जाता है। इसके अलावा मनोवैज्ञानिक अवधि वाला भी एक समय होता है

जिसे विचार ने उपलब्धि के लिए, कुछ पाने के लिए रच लिया है। प्रगति करने, कुछ कर दिखाने, कुछ बन जाने, कोई नतीजा हासिल कर लेने के लिये हम इस समय का प्रयोग करते हैं। अधिकतर लोगों के लिये यह समय किसी सुदूर, ऊंची मंज़िल की ओर चलते हुए पग धरने का आधार होता है—अपनी किसी योग्यता को विकसित करने का, किसी तकनीकी ज्ञान में दक्षता पा लेने का, किसी लक्ष्य अथवा उद्देश्य तक पहुंच जाने का आधार—भले वह प्रशंसनीय हो या न हो। इसलिए हम ऐसा मानने लगे हैं कि इस बात की वास्तविकता जानने के लिये कि सत्य क्या है, ईश्वर क्या है, और मानव की समस्त पीड़ाओं से परे क्या है, समय अनिवार्य है, इसमें समय लगता है।

हममें से अधिकांश समय को वर्तमान पल और भविष्य के किसी पल के बीच का अंतराल मानते हैं और इस समय का प्रयोग चरित्र-निर्माण करने, किसी आदत से छुटकारा पाने, शरीर को परिपुष्ट करने या किसी दृष्टिकोण को विकसित करने के लिये करते हैं। दो हजार वर्षां से ईसाई मानस एक उद्धारकर्ता में, नरक व स्वर्ग में विश्वास करने का आदी हो गया है, और पूरब में इसी प्रकार के विश्वास इससे भी कहीं अधिक लंबे समय से पल रहे हैं। हम ऐसा मानते हैं कि जो कुछ भी हमें करना या समझना है, उसके लिये समय अनिवार्य है। इसलिये समय एक बोझ बन जाता है, यथार्थ को देख पाने में यह आड़े आता है; किसी भी स्थिति के सत्य को तत्काल देख पाने से यह हमें वंचित रखता है क्योंकि हम सोचते हैं कि हमें तो इसके लिए समय लेना ही होगा। हम कहते हैं कल या आगामी एक दो वर्षों में मैं यह बात पूरी तरह समझ लूंगा। जिस क्षण हम इसमें समय को शामिल कर लेते हैं, उसी क्षण से हम अकर्मण्यता को पालने लगते हैं, एक अजीब से आलस्य में जकड़े जाते हैं जो इस बात में रुकावट डालता है कि किसी चीज़ को हम तत्काल वैसी ही देख पायें जैसी वह यथार्थ में है।

हम सोचते हैं कि अपने संगठित धर्मों, नैतिक सिद्धातों, मतांधताओं, अभिमान और प्रतिस्पर्धात्मक मनोवृत्ति वाले इस समाज के संस्कारों से बाहर निकल आने के लिये समय चाहिये। हम समय के दायरे में ही सोचते हैं क्योंकि विचार समय ही है। विचार स्मृति की अनुक्रिया है—समृति वह पृष्ठभूमि है जो जाति, संप्रदाय, वर्ग द्वारा और स्वयं व्यक्ति द्वारा संचित कर ली जाती है और जो हमें विरासत में प्राप्त होती है या हासिल कर ली जाती है। यह पृष्ठभूमि मन की संचयी प्रक्रिया की परिणति है और इसके संचय में समय लगा है। हममें से अधिकतर लोगों के लिये मन स्मृति ही है, और जब भी हमारे समक्ष कोई चुनौती या कुछ करने की मांग करने वाली कोई परिस्थिति आ खड़ी होती है तब यही स्मृति प्रतिक्रिया करती है। यह उस इलेक्ट्रॉनिक मस्तिष्क की प्रतिक्रिया जैसी ही है जो अपने भीतर भरी बातों के मिलान के आधार पर प्रतिक्रिया करता है। स्मृति की प्रतिक्रिया होने के कारण विचार स्वभाव से ही समय की उपज होता है और समय को उपजाता भी है।

देखिये जो मैं कह रहा हूँ वह कोई अनुमान या अटकल नहीं है। यह कोई ऐसी बात भी नही है जिस पर आपको सोचना पड़े। आपको इस पर सोचने की नहीं बल्कि इसे

देखने-समझने की आवश्यकता है क्योंकि यह तथ्य है। मैं इसके जटिल विवरण में नहीं जा रहा हूँ, परंतु मैंने इसके सारभूत तथ्यों को इंगित कर दिया है, अब चाहे आप उन्हें देख पायें या न देख पायें। जो कहा जा रहा है यदि आप उसे समझ रहे हैं—केवल शब्द, भाषा या विश्लेषण के स्तर पर नहीं बल्कि यदि आप इसे वास्तव में देख-समझ रहे हैं तो आपको यह बोध हो पायेगा कि समय कैसे छला करता है। तो अब प्रश्न उठता है कि क्या समय थम सकता है? यदि हम इतने सक्षम हो सकें कि स्वयं के कार्यकलाप की संपूर्ण प्रक्रिया को देख पायें—इसकी गहनता, इसके छिछलेपन, इसकी सुंदरता, इसकी कुरूपता को देख सकें—वह भी कल नहीं बल्कि अभी तुरंत देख सकें, तब यह देख सकना ही वह कर्म होगा जो समय के अस्तित्व को समाप्त कर देगा।

समय को समझे बिना हम दुख को नहीं समझ सकते। जैसा कि हमें लगा करता है, ये वैसे दो अलग-अलग मसले नहीं हैं। कार्यालय जाना, अपने परिवार के साथ रहना, बच्चे होना—ये भिन्न-भिन्न या यहां-वहां इक्का-दुक्का स्थितियां नहीं हैं, बल्कि ये सभी गहनता और अंतरंगता से परस्पर जुड़ी हैं। परंतु हम इनके संबंधों की अद्‌भुत अंतरंगता को तब तक नहीं देख सकते जब तक हममें वह संवेदनशीलता नहीं आ जाती जो प्रेम अपने साथ लाता है।

दुख को समझने के लिये वास्तव में हमें समय के स्वभाव को और विचार की संरचना को समझना होगा। समय का अंत होना ज़रूरी है अन्यथा किसी इलैक्ट्रॉनिक मस्तिष्क की भांति हम एकत्रित सूचनाओं को दोहराते भर रहेंगे। जब तक समय का अवसान नहीं होता—अर्थात विचार का अवसान नहीं होता—तब तक केवल पुनरावृत्ति, अनुकूलन और एक अनवरत संशोधन चलता रहता है। इसमें नया कुछ भी नहीं होता। हम मात्र एक गौरवान्वित इलैक्ट्रॉनिक मस्तिष्क होते हैं—शायद कुछ अधिक स्वतंत्र, परंतु अपने कार्य-व्यवहार में निहायत मशीनी।

दुख की प्रवृत्ति को और उसके अवसान को समझने के लिये हमें समय को समझना होगा और समय को समझना ही विचार को समझना है, ये दोनों अलग-अलग नहीं हैं। समय को समझने के लिये हमें विचार से निपटना होगा। विचार को समझ लेना समय का अवसान कर देना है और साथ ही दुख का भी। यदि यह बात एकदम स्पष्ट हो जाये तो ईसाइयों की तरह दुख को पूजने के बजाय हम उसे ध्यान से देख पायेंगे। जिसे हम समझ नहीं पाते, उसे या तो हम पूजने लगते हैं या विनष्ट कर देते हैं; हम उसे चर्च में, मंदिर में या फिर अपने मन के किसी अंधेरे कोने में रख देते हैं। हम इसे या तो भय की अवस्था में कस कर पकड़े रहते हैं, या इसे दुत्कार कर परे फेंक देते हैं या फिर इससे पलायन कर जाते हैं। परंतु हम यहां इन सब में से कुछ भी नहीं करने जा रहे। हम देख रहे हैं कि हजारों सालों से मानव इस दुख की समस्या से जूझता आया है परंतु फिर भी इसका समाधान वह नहीं कर पाया है। इसलिये वह इसके प्रति कठोर हो गया है और उसने यह कहकर इसे स्वीकार कर लिया है कि यह तो जीवन का अपरिहार्य अंश है।

दुख को यूं ही केवल स्वीकार कर लेना न सिर्फ एक मूर्खता है बल्कि मन को कुंद

बना लेना भी है। ऐसा करना मन को संवेदनशून्य, क्रूर और छिछला बना देता है जिससे जीवन बहुत आडंबरयुक्त हो जाता है, यह कामकाज व मनोसुख की प्रक्रिया पर बन कर रह जाता है। हम प्रायः एक व्यापारी, एक वैज्ञानिक, एक कलाकार, एक भावुक-रसिक या एक तथाकथित धार्मिक व्यक्ति के रूप में और न जाने कितने रूपों में विभाजित, कटे-बंटे अस्तित्व में जीते हैं। परंतु दुख को समझने और उससे मुक्त होने के लिये आपको समय को समझना-परखना होगा और इसके साथ-साथ विचार को भी। दुख को न तो आप नकार सकते हैं और न ही किसी मनोरंजन, किसी धर्म-स्थल, किसी संगठित विश्वास के माध्यम द्वारा दुख से पलायन कर सकते हैं और न ही इसे स्वीकार करते हुए आप इसे पूज सकते हैं। परंतु इनमें से कुछ भी न करने के लिये अत्यधिक अवधान, ध्यान यानी कि ऊर्जा आवश्यक है।

दुख की जड़ें स्वयं पर तरस खाने की प्रवृत्ति में जमी हैं। अतः दुख को समझने के लिये स्वयं पर तरस खाने की इस प्रवृत्ति को निर्ममतापूर्वक उखाड़ फेंकना होगा। मुझे नहीं मालूम कि आपने कभी यह देखा है या नहीं कि आप स्वयं अपनी ही दशा पर कितने दुखी हो जाते हैं—उदाहरणार्थ जब भी आप कहते हैं "मै अकेला हूँ", ज्यों ही आप स्वयं पर तरस खाना शुरू करते हैं, आप वह जमीन तैयार कर रहे होते हैं जिसमें दुख अपनी जड़ें जमाता है। स्वयं पर तरस खाने की अपनी प्रवृत्ति को आप कितना ही सही व औचित्यपूर्ण ठहरायें, इसके दोषों को ढक दें, अवधारणाओं से इसे ढांप दें, परंतु यह आप में कहीं गहरे तक आपको जकड़े रहती है। अतः जो व्यक्ति दुख को समझना चाहता है उसे इसकी शुरुआत स्वयं पर तरस खाने वाली इस क्रूर आत्म-केंद्रित, अहंकारी, क्षुद्र प्रवृत्ति को तिलांजलि देने से करनी होगी। हो सकता है कि आप स्वयं पर इसलिये तरस खा रहे हों क्योंकि आपको कोई रोग लग गया है, या मृत्यु ने आपके किसी प्रियजन को छीन लिया है, या आप जो हासिल करना चाहते थे वह आप नहीं कर पाये हैं, अतः आप खिन्न और व्यथित हो गये हैं; कारण कुछ भी हो स्वयं पर तरस खाना दुख का मूल है। और यदि एक बार आप अपनी इस प्रवृत्ति से मुक्त हो जायें तो आप दुख का सामना कर सकते हैं, उसकी पूजा किये बिना, उससे पलायन किये बिना और उसे कोई अलौकिक अथवा आध्यात्मिक अर्थ दिये बिना, जैसे यह कहना कि ईश्वर प्राप्ति के लिये दुख भोगना तो आवश्यक है; यह तो नितांत अनर्गल बात हुई। केवल एक मंद, मूढ़ मन ही दुख को जैसे-तैसे सहन करता है। इसलिए दुख को स्वीकार कर लेना बेमानी है और इसे नकार देना भी। जब आप स्वयं पर तरस खाने की अपनी प्रवृत्ति से मुक्त हो जाते हैं तब इससे उत्पन्न होने वाली सारी भावुकता और ख्वाब-ख्याली दुख का हिस्सा नहीं रह जाती। तभी आप दुख को पूरे अवधान से, पूरी तवज्जो से देख पाने में सक्षम होते हैं।

मैं आशा करता हूँ कि मेरे साथ चलते-चलते आप यह सब सचमुच करते भी चल रहे हैं और जो कुछ कहा जा रहा है उसे केवल शाब्दिक रूप में ही नहीं ले रहे हैं।

निष्क्रियतापूर्वक दुख को स्वीकार कर लेने के प्रति, अपने तर्कों व बहानों के प्रति और स्वयं पर तरस खाने की अपनी जज़्बाती, भावुक प्रवृत्ति के प्रति सावधान रहिए

क्योंकि यह सब ऊर्जा का अपव्यय है। दुख को समझने के लिये आपको इस पर अपना पूरा अवधान देना होगा और इस अवधान में बहानों का, भावुकता का, तार्किक व्याख्या का और स्वयं पर तरस खाने का कैसा भी, कोई भी स्थान नहीं है।

दुख को अपना पूरा अवधान देने की बात कहते हुए मुझे आशा है कि मैं अपना अभिप्राय स्पष्ट कर पाया हूँ। इस अवधान में दुख का समाधान करने या दुख को समझने का कोई प्रयास नहीं होता। हम केवल देखते हैं, अवलोकन करते हैं। दुख को समझने का, उसका औचित्य ठहराने का या उससे पलायन करने का कोई भी प्रयास पूर्ण अवधान की उस निषेधात्मक अवस्था को नकारता है जिसमें इस दुख के मुद्दे को समझ पाना मुमकिन है।

हम दुख से मुक्त होने के लिये दुख का विश्लेषण नहीं कर रहे, विश्लेषणात्मक विवेचना नहीं कर रहे क्योंकि यह भी मन की ही एक अन्य चाल होगी। मन दुख का विश्लेषण करता है और फिर कल्पना कर लेता है कि उसने दुख को समझ लिया है और वह उससे मुक्त हो गया है—जब कि इसका कोई मतलब नहीं होता। हो सकता है कि आप किसी एक प्रकार के दुख से मुक्त हो जायें परंतु दुख पुनः किसी अन्य रूप में प्रकट हो ही जायेगा। हम यहां दुख को उसके संपूर्ण रूप में देख रहे हैं—यथाभूत—भले ही वह आपका दुख हो, मेरा दुख हो या किसी और का।

दुख को समझने के लिये समय और विचार को समझना लाज़मी है। सभी पलायनों, स्वयं पर तरस खाने की अपनी पूरी प्रवृत्ति और सारे शब्दाडंबरों के प्रति चुनावरहित जागरूक होना होगा—ज़रूरत है रुचि-अरुचि से अप्रभावित एक सजगता की जिससे मन उस स्थिति के समक्ष पूर्णतया मौन रहे जिसे समझा जाना है। तब द्रष्टा और दृश्य में कोई विभाजन नहीं रह जाता। तब ऐसा नहीं रहता कि 'आप'—द्रष्टा, विचारकर्ता—दुख में हैं और दुख को देख रहे हैं; तब तो दुख की अवस्था मात्र होती है। दुख की यह अविभक्त अवस्था आवश्यक है क्योंकि यदि आप द्रष्टा के रूप में दुख को देख रहे हैं तो आप द्वंद्व निर्मित कर रहे होते हैं जिससे मन कुंद हो जाता है और ऊर्जा का अपव्यय होता है, फलस्वरूप वहां अवधान नहीं रहता।

मन जब समय और विचार का स्वभाव समझ लेता है, जब वह स्वयं पर तरस खाने की प्रवृत्ति, भावुकता और ख्वाब-ख्याली आदि को जड़ से उखाड़ फेंकता है, तब इन तमाम जटिलताओं के जनक अर्थात् विचार का अवसान हो जाता है और उसके साथ ही समय का भी, और तभी आप प्रत्यक्षतः और निकटतः उस अवस्था के संपर्क में आते हैं। जिसे आप दुख कहते हैं। दुख तभी तक टिका रहता है जब तक उससे दूर भागने की, उसका समाधान करने की, उसे पूजने की चाहत हममें बनी रहती है। परंतु मन के सीधे-सीधे दुख के संपर्क में आ जाने के कारण जब इनमें से कुछ नहीं हो रहा होता और मन इस संदर्भ में एकदम मौन होता है तब आप स्वयं ही देखेंगे कि मन लेशमात्र भी दुखमय नहीं है। हमारा मन ज्यों ही दुख के यथार्थ से पूरी तरह रू-ब-रू होता है, त्यों ही वह यथार्थ स्वयं ही समय और विचार के दुख उपजाने वाली प्रवृत्तियों को विघटित कर देता

है; और इस प्रकार दुख का अवसान हो जाता है।

तो हमें वह वाकया कैसे समझ में आ सकता है जिससे हम इतना भयभीत रहते हैं, जिसे हम मृत्यु कहते हैं। मनुष्य ने मृत्यु से निपटने के लिये अनेक भ्रामक तरीके रच डाले हैं—इसे पूजना, इसे नकारना, असंख्य विश्वासों से चिपके रहना आदि आदि। परंतु मृत्यु को समझने के लिये आपको निश्चय ही एक नौसिखिये की तरह आना होगा क्योंकि आप मृत्यु के बारे में सचमुच कुछ नहीं जानते हैं। लोगों को मरते आपने देखा होगा और साथ ही आयु द्वारा आपने स्वयं को और दूसरों को छीजते देखा होगा। आप जानते हैं कि वृद्धावस्था, दुर्घटना, रोग, हत्या अथवा आत्महत्या से इस शारीरिक जीवन का अंत हो जाता है, परंतु मृत्यु को आप उस प्रकार नहीं जानते जिस प्रकार आप सेक्स, भूख, क्रूरता और निर्दयता को जानते हैं। आप सचमुच यह नहीं जानते कि यह मरना है क्या, और जब तक आप इसे जान नहीं पाते तब तक मृत्यु का आपके लिए कोई अर्थ नहीं है। जिससे आप भयभीत हैं, वह आपकी एक कल्पना पर है, एक ऐसी शै है जिसे आप जानते नहीं। मृत्यु की संपूर्णता को अथवा इसके निहितार्थ को न जानने की वजह से ही मन इससे भयभीत रहता है—मन इसके विचार से भयभीत रहता है, तथ्य से नहीं क्योंकि मृत्यु के यथार्थ को तो वह जानता ही नहीं है।

इस विषय में मेरे साथ कृपया आहिस्ता-आहिस्ता बढ़ते चलें। यदि मौत अचानक आ जाए तो मृत्यु के बारे में विचार करने और इससे भयभीत होने का समय ही आपके पास नहीं होगा। परंतु इस क्षण और मृत्यु के उस भावी क्षण के बीच एक अंतराल है, और इस अंतराल के दौरान चिंता करने और तर्क करने के लिये आपके पास समय ही समय है। आप अपने अगले जन्म में—यदि अगला जन्म होता है तो—अपनी व्यग्रताओं, इच्छाओं और अपने संचित ज्ञान को अपने साथ ले जाना चाहते हैं; इस तरह आप कुछ मत-सिद्धांत गढ़ लेते हैं या अमरता के किसी न किसी रूप में विश्वास करने लगते हैं।

आपके लिये मृत्यु एक ऐसी घटना है जो जीवन से पृथक है। लेकिन मृत्यु आपके साथ-साथ रहती है। अब भी जब कि आप यहां हैं और तब भी जब कि आप जीवनयापन में व्यस्त होते हैं—कार चलाते हुए, सेक्स के दौरान, भूख महसूस करते हुए, चिंता करते हुए, कार्यालय जाते हुए, ज्ञानार्जन करते हुए इत्यादि। आप मरना नहीं चाहते क्योंकि आपका फलां पुस्तक-लेखन पूरा नहीं हुआ है, या आप अभी यह नहीं सीख पाये हैं कि वायलिन को मोहक ढंग से कैसे बजाया जाये! तो आप मृत्यु को जीवन से विलग कर देते हैं और कहते हैं, "अब मैं जीवन को समझूंगा, और बाद में मैं मृत्यु को समझूंगा"। परंतु ये दोनों अलग-अलग कदापि नहीं हैं, और सर्वप्रथम समझ लेने वाली बात यही है। जीवन और मृत्यु एक ही हैं। वे घनिष्ठता से संबद्ध हैं। आप उनमें से किसी एक को पृथक नहीं कर सकते और न ही किसी एक को पृथक करके उसे समझ सकते हैं। परंतु हम अधिकतर करते ऐसा ही हैं। हम जीवन को असंबद्ध, अलग-अलग टुकड़ों में बांट देते हैं। यदि आप अर्थशास्त्री हैं तो आप केवल अर्थशास्त्र से ही संबद्ध हो जाते हैं और किसी अन्य विषय के बारे में कुछ नहीं जानते। यदि आप चिकित्सक हैं, नाक, गले या हृदय के

विशेषज्ञ, तो आप अपने इस सीमित ज्ञान की परिधि में ही चालीस वर्ष बिता देते हैं और जब आप मर रहे होते हैं तो वही आपका स्वर्ग होता है।

जीवन के किसी एक ही अंश से सरोकार रखना निरंतर विभ्रम, विरोधाभास और क्लेश में जीना है। आपको जीवन का संपूर्ण स्वरूप देखना होगा परंतु जीवन की संपूर्णता को आप तभी देख सकते हैं जब आप में नेह हो, प्रेम हो। प्रेम ही वह एकमेव क्रांति है जो व्यवस्था को जन्म देती है। गणित, औषध, इतिहास, अर्थशास्त्र आदि के बारे में अधिकाधिक ज्ञान अर्जित कर लेने और फिर इस सब को एक साथ रख देने से कुछ नहीं होगा, इससे किसी भी बात का कोई भी समाधान होने वाला नहीं है। प्रेम के अभाव में क्रांति केवल राज्य का पिछलग्गू बनाती है या किसी छवि की पूजा कराती है या जन साधारण को चूस लेने वाले विकराल भ्रष्टाचार को जन्म देती है तथा मानव को महाविनाश की ओर ले जाती है। इसी प्रकार, मृत्यु से भयभीत होने के कारण जब मन मृत्यु को कहीं दूर मान बैठता है और अपने दैनिक जीवन से इसे अलग कर देता है तब यह अलगाव केवल अधिक भय और अधिक व्यग्रता ही उत्पन्न करता है, मृत्यु के बारे में नाना प्रकार के मत-सिद्धांतों की परमार कर देता है। मृत्यु को समझने के लिये आपको अपने जीवन को समझना होगा। पर जीवन विचार की निरंतरता नहीं है, बल्कि इसी निरंतरता ने तो हमारे तमाम क्लेशों को जन्म दिया है।

तो क्या मन मृत्यु को उस दूरी से एकदम सन्निकट, पास ला सकता है? वास्तव में मृत्यु कहीं दूर नहीं है, यह यहीं है और अभी है। जब आप बात कर रहे होते हैं, जब आप आमोद-प्रमोद में होते हैं, सुन रहे होते हैं, कार्यालय जा रहे होते हैं—मृत्यु सदा साथ बनी रहती है। यह जीवन में प्रतिपल आपके साथ रहती है, बिल्कुल वैसे ही जैसे प्रेम रहता है। आपको यदि एक बार इस यथार्थ का बोध हो जाये, तो आप पायेंगे कि आप में मृत्युभय शेष नहीं रह गया है। हम अज्ञात से भयभीत नहीं हैं बल्कि ज्ञात को खोने के भय से ग्रस्त हैं। आप अपने परिवार को खो देने के भय से ग्रस्त रहते हैं, अकेले पड़ जाने व कोई संगी-साथी न रह जाने के भय से, उस अकेलेपन की पीड़ा, नये अनुभवों का अभाव और स्वयं द्वारा जुटायी गयी चीज़ों के न रहने के भय से ग्रस्त रहते हैं। हमें भय है ज्ञात के खो जाने का। ज्ञात स्मृति है और इसी स्मृति से हमारा मन चिपका रहता है। परंतु स्मृति एक यांत्रिक चीज़ है—यह बात आज कंप्यूटर भली-भांति सिद्ध कर रहा है।

मृत्यु में निहित सौंदर्य और उसकी अद्‌भुत प्रकृति को समझने के लिये ज्ञात से मुक्त होना आवश्यक है। ज्ञात का विसर्जन मृत्यु की समझ का उदय है क्योंकि तब मन कोरा और नूतन हो जाता है और उसमें कोई भय शेष नहीं रह जाता। अतः तब हम उस अवस्था में प्रवेश कर पाते हैं जिसे मृत्यु कहते हैं। आदि से अंत तक जीवन और मृत्यु एक ही है। समझदार व्यक्ति समय, विचार और दुख को समझता है अतः केवल वही मृत्यु को समझ सकता है। जो मन प्रतिपल मरना जानता है, कुछ संचित नहीं रखता, अनुभवों को कभी एकत्रित नहीं करता; वह मन निर्दोष रहता है और इसलिये वह अनवरत प्रेम की अवस्था में होता है।

सानेन,
28 जुलाई 1964

दो

प्रश्नकर्ता: आपने कहा है कि मृत्यु, प्रेम, जन्म मूलरूप से एक ही हैं। आप यह दावा कैसे कर सकते हैं कि प्रेम के आह्लाद और मृत्यु की घटना से जुड़े झकझोर देने वाले दुख में कोई अंतर ही नहीं है?

कृष्णमूर्ति : मृत्यु से आपका क्या अभिप्राय है? शरीर का न रहना, स्मृति का न रहना? परंतु फिर भी आप यह आशा करते हैं, सोचते हैं और विश्वास करते हैं कि इसके बाद भी एक निरंतरता बनी ही रहती है। मेरी समझ में तो, यह स्मृति की निरंतरता ही है जो मृत्यु को अस्तित्व देती है; और स्मृति है लालसा, पकड़ और चाह का परिणाम। तो जो लालसा से, तृष्णा से मुक्त है, उसके लिये मृत्यु है ही नहीं, उसके लिये न कोई आरंभ है, न अंत, न प्रेम की राह है, न मन की, दुख की राह। देखिये मैं यह स्पष्ट करने का प्रयास कर रहा हूँ कि किसी भी विपरीत के पीछे दौड़ना प्रतिरोध खड़ा कर देता है। यदि मैं भयग्रस्त हूँ तो मैं साहस चाहता हूँ, फिर भी भय मुझे नहीं छोड़ता क्योंकि मैं तो एक चीज़ से दूसरी की ओर पलायन भर कर रहा होता हूँ। परंतु यदि मैं स्वयं को भय से मुक्त कर लेता हूँ तो मुझे न साहस का मान होता है न भय का। और मेरा कहना है कि ऐसा करने के लिये सजग रहना, सचेत रहना आवश्यक है, साहस का दामन थामने की बजाय कर्म में प्रयोजन से मुक्त होना होगा। अर्थात् यदि आप भयभीत हैं तो कुछ करने की खातिर साहस का प्रयोजन मत गढ़िए, बल्कि स्वयं को भय से मुक्त कीजिये। यही प्रयोजनरहित कर्म है। यदि आप सचमुच इसे समझ लें तो आप देखेंगे कि समय का, भावी के मेष में मृत्यु का अवसान हो चुका होगा। मृत्यु और कुछ नहीं, बल्कि एक अतिशय अकेलेपन का बोध है। अब अपने आप को अकेलेपन की गिरफ़्त में पाकर हम अन्य की ओर भागते हैं, हम कोई जुड़ाव चाहते हैं, या उस पार क्या है इसकी उधेड़बुन में लग जाते हैं; मेरी दृष्टि में, यह सारी विपरीत की दौड़ ही है और इसलिये इसमें सदैव अकेलापन बना रहता है। परंतु, अकेलेपन से रू-ब-रू होने पर, उसे परपूर जी लेने पर, सजगता के साथ इसे जानने-समझने पर आप वर्तमान में उसे भस्मीभूत कर देते हैं। अतएव, तब मृत्यु है ही नहीं।

सभी चीज़ें देर-सबेर बिगड़ जाती हैं, खत्म हो जाती हैं। इन चीज़ों में शामिल हैं शरीर, इसके गुण, प्रतिरोध, बाधाएं—यह सभी कुछ घिस-पिट जाता है, और यह तो होना ही है। परंतु जो मनुष्य विचार और भावनाओं में उस प्रतिरोध और अवरोध से मुक्त है, वही अमरत्व को, अनश्वर को जान पाएगा—वह उसकी अपनी सीमा की, अपने व्यक्ति-वैशिष्ट्य की, अपनी निजता की निरंतरता नहीं होगी जो कि तृष्णाओं के, जकड़ावों के, चाहतों के एक परत-दर-परत सिलसिले के सिवा कुछ भी तो नहीं। हो सकता है कि आप इससे सहमत न हों परंतु यदि आप विचार से मुक्त हैं, यदि आप अवलोकन की, चौकसी

की और सघनता की उस लपट के द्वारा खुदपरस्ती को बींध पाए हैं, तो अनश्वर की मौजूदगी है, जो संपूर्ण समस्वरता है, जो न 'प्रेम की राह' है, न 'दुख की राह', अपितु ऐसा कुछ है, जिसमें समस्त विभाजन मिट गये हैं।

ओहाइ,
7 जून 1932

तीन

प्रश्नकर्ता : मौत हर पल हमें घूर रही है, तो भी इसका रहस्य कभी सुलझ नहीं पाया है। क्या यह रहस्य हमेशा रहस्य ही रहेगा?

कृष्णमूर्ति : मृत्यु का भय क्यों होता है? जब तक हम निरंतरता को चाहते रहेंगे तब तक मृत्यु का भय बना रहेगा। आधा-अधूरा कर्म मृत्यु के भय का कारण बनता है। जब तक अपने व्यक्तित्व, अपनी क्रियाओं, अपनी क्षमताओं, अपनी ख्याति की निरंतरता की चाहत हममें रहेगी, तब तक मृत्यु का भय भी बना रहेगा। जब तक हम परिणाम पर, इनाम पर नज़र रखकर काम करेंगे तब तक हममें एक विचारक बना रहेगा जो निरंतरता की मांग करता रहेगा। जब इस निरंतरता को मृत्यु का खतरा होता है तब भय उत्पन्न होता है। इस प्रकार, मृत्यु का भय तभी तक है जब तक निरंतरता की इच्छा मौजूद है।

जो भी चीज़ निरंतर रहती है, वह विखंडित होती ही है। निरंतरता का कोई भी रूप, वह चाहे जितना उत्कृष्ट क्यों न हो, विखंडन की प्रक्रिया ही है। निरंतरता में कभी नवीनीकरण नहीं होता जबकि मौत के डर से निजात केवल उस नयेपन में ही मिल सकती है। यदि हम इस बात की सच्चाई देख लें, तब हम असत् की सच्चाई भी देख पाते हैं। तब असत् से मुक्ति संभव होती है; मृत्यु का कोई भय शेष नहीं रहता। इस तरह, जीना और अनुभूत करना वर्तमान में होने लगता है और वे निरंतरता के उपकरण नहीं रह जाते।

पल-प्रतिपल नवीनीकरण के संग जीना क्या संभव है? नवीनीकरण केवल अंत में निहित होता है, निरंतरता में नहीं। किसी समस्या के अंत और दूसरी के आरंभ के बीच का अंतराल ही यह नयी शुरुआत है।

मृत्यु, अनिरंतरता की अवस्था, नवजीवन की अवस्था—ये अज्ञात हैं। मृत्यु अज्ञात है। यह मन जो खुद निरंतरता का परिणाम है इस अज्ञात को नहीं जान सकता। यह तो केवल ज्ञात को जान सकता है। यह केवल ज्ञात अर्थात निरंतरता में ही सक्रिय रह सकता है और इसीमें अपना अस्तित्व बनाये रख सकता है। तो ज्ञात अज्ञात के भय में ही निहित है। ज्ञात कभी अज्ञात को नहीं जान सकता और इसीलिये मृत्यु एक रहस्य बनी रहती है। यदि प्रत्येक पल का समापन उसी पल और प्रत्येक दिन का समापन उसी दिन हो सके तो इसी समापन से अज्ञात का प्रादुर्भाव हो पायेगा।

'मैं' की निरंतरता अमरत्व नहीं है। मैं और मेरा तो समय से जुड़े रहते हैं। ये किसी प्रयोजन से की गई क्रिया के परिणाम होते हैं। अतः मैं और मेरे, तथा जिसे अमरत्व या शाश्वत कहते हैं, इन दोनों के बीच कोई संबंध नहीं है। इनमें संबंध होने के बारे में सोचना हमें अच्छा तो लगता है परंतु यह है मरीचिका ही। जो शाश्वत है उसे नश्वर की पेटिका में बंद नहीं किया जा सकता। जो अपरिमेय है उसे समय के पाश में नहीं बांधा जा सकता।

जहां उपलब्धि की ललक रहती है, वहां मृत्युभय भी रहता है। उपलब्धि का कोई

ओर-छोर नहीं होता। इच्छा अनवरत कुछ ढूंढ़ती रहती है और उसकी अभीष्ट विषयवस्तु सदा बदलती रहती है, और इसीलिये यह समय के जाल में फंसी रहती है। अतः अपनी इच्छित वस्तु को पा लेने की ललक निरंतरता का दूसरा रूप है, और तब कुंठा मृत्यु को निरंतरता के माध्यम के रूप में खोजने लगती है। सत्य सतत-निरंतर नहीं होता। सत्य है होने की अवस्था और होना वह कर्म है जिसमें समय मौजूद नहीं है। इस अस्तित्व की, होने की अनुभूति तभी हो पाती है जब निरंतरता की जननी इस इच्छा को अशेष रूप से, पूरी तरह से समझ लिया जाये। विचार अतीत पर टिका रहता है, अतः विचार अज्ञात को, अपरिमेय को नहीं जान सकता। इस विचार क्रिया को थमना ही होगा; अविज्ञेय केवल तभी प्रकट हो सकता है।

बंबई,
14 मार्च 1948

चार

प्रश्नकर्ता : मैं मृत्यु से डरता हूँ। मृत्यु क्या है, और मैं इसके भय से कैसे मुक्त हो सकता हूँ?

कृष्णमूर्ति : प्रश्न पूछ लेना बहुत सरल होता है। जीवन के प्रश्न का कोई 'हां' या 'ना' जैसा उत्तर नहीं होता। परंतु हमारा मन तो 'हां' या 'ना' ही चाहता है, क्योंकि उसे सिखाया यही गया है कि वह क्या सोचे, यह नहीं कि वह कैसे समझे और वास्तविकता को कैसे देखे। जब हम पूछते हैं कि "मृत्यु क्या है और मैं कैसे इसके भय से मुक्त हो सकता हूँ" तब समझ लीजिये कि हम कोई सूत्र, कोई परिभाषा खोज रहे हैं, परंतु यह हम कभी नहीं समझ पाते कि किसी समस्या के विषय में सोचें कैसे।

आइये देखते हैं हम इस समस्या पर साथ-साथ विचार कर सकते हैं क्या। मृत्यु क्या है? अस्तित्व का न रहना, अंत हो जाना, यही न? हम जानते हैं कि अंत तो होना ही है, हर रोज़ हम अपने चारों ओर इसे देखते हैं। फिर भी मैं मरना नहीं चाहता—यह 'मैं' जो कि एक प्रक्रिया है : "मैं सोच रहा हूँ, मैं अनुभव कर रहा हूँ," मेरा ज्ञान, जो चीज़ें मैंने पोषित की हैं, जिन चीज़ों का मैं प्रतिरोध करता आया हूँ, मेरा व्यक्तित्व, अनुभव, ज्ञान, उम्दा काम करने की प्रवृत्ति, क्षमता-योग्यता, सुंदरता—इस सब का अंत मुझे मान्य नहीं। मैं बने रहना चाहता हूँ, जीवन अभी मैंने जिया ही कहां है, मैं इसका अंत होते नहीं देख सकता। तब भी अंत तो होना ही है। स्पष्ट है कि स्पंदित हो रहे प्रत्येक जीवन का अंत होना निश्चित है। परंतु मेरा मन इसे स्वीकार नहीं करता। अतः मैं कोई पंथ, कोई निरंतरता गढ़ने लगता हूँ, उसे मैं स्वीकार कर लेना चाहता हूँ, क्योंकि मेरे पास अपने निरंतर बने रहने और पुनर्जन्म के बारे में पक्के सूत्र-सिद्धांत हैं, पुष्ट संस्कारबद्धता है।

हम यह विवाद नहीं कर रहे हैं कि जीवन की निरंतरता है या नहीं, अथवा पुनर्जन्म होता है या नहीं। समस्या यह नहीं है। समस्या यह है कि आपमें इन तमाम विश्वासों के बावजूद डर बना हुआ है। क्योंकि, आखिरकार उनमें कोई निश्चितता तो है नहीं, अनिश्चितता बराबर मौजूद रहती है, कोई आश्वासन मिल जाये, यह बेचैनी हमेशा बनी रहती है। चूंकि इसे अंत का एहसास रहता है मन डरा-डरा रहता है, और जब तक मुमकिन हो तब तक जिये चले जाना चाहता है, तरह-तरह की निजात चाहता है। मृत्यु के बाद निरंतरता बनी रहेगी, इसमें भी मन का भरोसा रहता है।

निरंतरता क्या है? क्या निरंतरता में समय निहित नहीं है—घड़ी की सुइयों के साथ चलने वाला समय नहीं बल्कि एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया के रूप में समय? मैं जीवित रहना चाहता हूँ। चूंकि मैं सोचता हूँ कि यह एक अंतरहित, निरंतर चलने वाली प्रक्रिया है अतः मेरा मन निरंतरता की आकांक्षा में स्वयं में कुछ न कुछ जोड़ता रहता है। इसलिये मन समय की शैली में सोचता है और यदि इसे समय में निरंतरता मिलती रहे तो यह

भयभीत नहीं होता।

अमरत्व क्या है? किसी उच्चतर स्तर पर स्थापित 'मैं' की निरंतरता को हम अमरता कह देते हैं। आप आशा करते हैं कि यह 'मैं' निरंतर बना रहेगा। फिर भी यह 'मैं' रहता विचार की परिधि में ही है, है न ऐसा? आपने तो इस विषय पर सोचा-विचारा है। आप इस मैं को कितना भी ऊंचा स्थान दे दें, यह विचार की ही उपज रहता है, उस विचार की उपज जो संस्कारों से ग्रस्त है और जो समय की कोख से जन्मा है। जो मैं कह रहा हूँ कृपया उसके केवल तर्क का ही अनुसरण मत कीजिये बल्कि इसका पूरा अभिप्राय समझिये। वास्तव में अमरता समय की सीमा में नहीं आती और इसलिये मन की परिधि में भी नहीं आ सकती। यह मेरी चाहतों, मेरी मांगों, मेरे डर, मेरी अभीप्साओं से फलीभूत होने वाली बात नहीं है।

हम देखते हैं कि जीवन का अंत होता है, एकदम, देखते-ही-देखते। जो कल था वह कदाचित आज न रहे और जो आज है वह कदाचित कल न रहे। जीवन का एक अंत तो निश्चित है। यह एक तथ्य है, परंतु हम इसे स्वीकार नहीं करते। आप कल जैसे थे आज उससे भिन्न हैं। नाना प्रकार की चीज़ों ने, विविध प्रकार के संपर्कों, प्रतिक्रियाओं, विवशताओं, विरोधों और प्रभावों ने 'जो था' उसे बदल डाला है या उसका अंत कर डाला है। जो व्यक्ति सृजनशील है उसके लिये अंत करना अनिवार्य है और वह इसे स्वीकार भी करता है। पर हम इसे स्वीकार नहीं करते क्योंकि हमारा मन संचय करने की प्रक्रिया का एकदम आदी हो चुका है। हम कहा करते हैं, "आज मैंने यह सीख लिया", "मैंने कल यह सीखा था।" हम केवल समय और निरंतरता के तौर-तरीकों से सोचते हैं। यदि हम निरंतरता के हिसाब से न सोचें तो एक अंत होगा, मरना होगा और हम चीज़ों को अधिक साफ तौर पर, सीधे-सीधे, जस का तस देख पायेंगे।

अंत हो जाने के तथ्य को हम स्वीकार नहीं करते क्योंकि हमारा मन इस निरंतरता में ही अपने परिवार, अपनी संपत्ति, अपने व्यवसाय या जो भी हम करते हैं उसमें सुरक्षा ढूंढ़ता रहता है। इसलिये हम डरे-डरे रहते हैं। केवल उसी मन का अमरत्व से, अनश्वर से परिचय हो सकता है जो सुरक्षा को थामे रखना छोड़ देता है, जो निरंतर बने रहने की इच्छा से, निरंतरता की प्रक्रिया से मुक्त हो जाता है। परंतु जो मन अपनी व्यक्तिगत निरंतरता तलाशता रहता है, अपने 'मैं' का सातत्य चाहता रहता है, वह कभी नहीं जान पाता कि अनश्वर क्या है; ऐसा मन भय का, मृत्यु का सार नहीं जान पायेगा, उनसे पार नहीं जा पायेगा।

वाराणसी,
17 जनवरी 1954

पांच

प्रश्नकर्ता : हम मृत्यु से डरते क्यों हैं?

कृष्णमूर्ति : आपने प्रश्न किया है "हम मृत्यु से डरते क्यों हैं?" क्या आप जानते हैं कि मृत्यु क्या होती है? आप उस हरी पत्ती को देखिये, यह सारी गर्मी जीवित रही है, हवा में झूमती रही है, धूप को पीती रही है, वर्षा इसे धोकर साफ करती रही है, और जब सर्दी आयेगी तब यह पत्ती झर जायेगी, मर जायेगी। उड़ान भरता पंछी बहुत सुंदर लगता है परंतु वह भी ढल जाता है, मर जाता है। शवों को जलाने के लिये नदी किनारे ले जाते हुए आप देखते आये हैं। तो आप जानते ही हैं कि मृत्यु क्या है। आप इससे डरते क्यों हैं? चूंकि आप भी उस पत्ती की तरह, उस पंछी की तरह ही जी रहे हैं, किसी रोग के बहाने या किसी और वजह से आपका भी अंत होना ही है। इसलिये आप कहते हैं "मैं जीना चाहता हूँ, आनंद उठाना चाहता हूँ, मैं यह चाहता हूँ कि मेरी यह ज़िंदगी बनी रहे, जारी रहे।" तो मृत्यु का भय अंत आ जाने का भय है, है न? क्रिकेट खेलना, धूप का आनंद लेना, नदी को बार-बार निहारना, वही अपने वस्त्र पहनना, पुस्तकें पढ़ना, मित्रों से मिलना, लगातार यह सब—परंतु इस सब का एक अंत आता ही है। इसीलिये आप मृत्यु से भयभीत रहते हैं।

मृत्यु के भय से ग्रस्त, यह जानते हुए कि मृत्यु टाली नहीं जा सकती हम इससे पार जाने की सोचा करते हैं, तरह-तरह के मत-सिद्धांत बना डालते हैं। परंतु यदि हम यह जान लें कि अंत कैसे संभव है, यदि हम यह जान लें कि प्रतिदिन कैसे मरा जाता है तो भय का कोई वजूद नहीं रह जाता। आप यह बात समझ रहे हैं न? यह बात ज़रा लीक से हटकर है। हम जानते ही नहीं कि मरना किसे कहते हैं क्योंकि हम तो इकट्ठा करते रहते हैं, करते रहते हैं। हम हमेशा आने वाले कल के बारे में ही सोचते रहते हैं। "मैं यह हूँ, मैं वह बन जाऊंगा।" हम एक भी दिन निश्शेष रूप से नहीं जीते। हम भी उस तरह नहीं जी पाते जैसे हमारे पास जीने के लिये बस वही दिन बचा हो। हम हमेशा या तो विगत कल में जीते हैं या आगामी कल में। यदि कोई आपको बताये कि इस दिन के अवसान के साथ ही आपका भी अंत होने वाला है, तो आप क्या करेंगे? क्या इस दिन को भरपूर ढंग से नहीं जियेंगे? हम उस एक दिन के भरपूर खजाने को, उसकी लबालब खूबसूरती को जज़्ब नहीं कर पाते। हम उस दिन की इबादत नहीं करते; हम तो सदा आने वाले कल के बारे में सोचते रहते हैं—जो क्रिकेट हम कल खेलने वाले हैं, जो परीक्षा हम छः महीने बाद देने वाले हैं, कैसे हम दावत का आनंद उठाने वाले हैं, कैसे-कैसे हम कपड़े खरीदेंगे वगैरह—तो हमारा ध्यान सदैव बीते कल या आने वाले कल की ओर रहता है। इस तरह हम कभी जीते तो हैं ही नहीं बल्कि देखा जाये तो हमें हमेशा मौत ही आयी रहती है—उलट-पुलट अर्थ में।

यदि हम प्रत्येक दिन को जियें और पूरी तरह से उसका अवसान होने दें, और दूसरे दिन को पुनः ऐसे शुरू करें जैसे वह एकदम नया हो, कोरा हो तब उसमें मृत्यु का कोई भय नहीं होगा। जो कुछ हमने अर्जित किया है—तमाम ज्ञान, सारी स्मृति, सभी संघर्ष—यदि हम इन सब के प्रति उसी दिन मर जायें, इन्हें अगले दिन की शुरुआत तक ढोकर न ले जायें, तो आप पायेंगे कि इसमें एक सौंदर्य है; हालांकि एक अंत हो रहा है, नूतन भी घटित हो रहा है।

राजघाट, विद्यार्थियों के बीच,
22 जनवरी 1954

छह

लाल जमीन पर उस मकान के बाहर सुनहरे दिल वाले तुरहीनुमा फूलों की परमार थी। उनकी नील-लोहित रंग की बड़ी-बड़ी पंखुड़ियां थीं और उनमें भीनी-भीनी सुगंध भी थी। दिन में वे मुरझा जाते थे, परंतु रात के अंधेरे में वे उस लाल जमीन पर छा जाते थे। उषा की किरणों में चमकने वाली और आरी जैसी दांतेदार पत्तियों वाली वह लता बहुत पुष्ट थी। कुछ बच्चे लापरवाही से उन फूलों पर चल-फिर रहे थे और एक व्यक्ति जल्दी-जल्दी अपनी कार में सवार हो रहा था, बिना इस ओर एक नज़र तक डाले। बराबर से गुज़रते एक व्यक्ति ने एक फूल उठाया, उसे सूंघा और और उसे लिये चला गया, कुछ देर बाद कहीं डाल देने के लिये। एक महिला जो शायद नौकरानी रही होगी उस मकान से निकली, उसने एक फूल उठा लिया और उसे अपने बालों में लगा लिया। वे फूल कितने सुंदर थे परंतु धूप में कितनी जल्दी मुरझा रहे थे।

'मैं हमेशा किसी न किसी भय से पगलाया सा रहा हूँ। बचपन में मैं बहुत शर्मीला, संकोची, और संवेदनशील था और अब मैं वृद्धावस्था व मृत्यु से भयभीत हूँ। मैं जानता हूँ कि हम सब को मरना तो है ही परंतु कोई भी तर्क मेरे इस भय को शांत नहीं कर पाता है। मैं साइकिकल रिसर्च सोसायटी में शामिल हो गया हूँ, मैंने उनकी कुछ आत्मा बुलाने वाली बैठकों में भाग लिया है और यह भी पढ़ा है कि महान गुरुओं ने मृत्यु के बारे में क्या कहा है, परंतु मेरा भय अभी भी बना हुआ है। मैंने मनोविश्लेषण को भी आज़माया है परंतु उससे भी कुछ लाभ नहीं हुआ। यह भय मेरे लिये एक समस्या बन गया है। रात को मैं उन भयानक सपनों से जाग उठता हूँ जिनका संबंध किसी न किसी प्रकार मृत्यु से होता है। मैं मृत्यु और हिंसा से विचित्र रूप से भयाक्रांत हूँ। यह युद्ध मेरे लिये एक निरंतर चलता भयानक स्वप्न रहा है और मैं अब सचमुच बहुत हैरान-परेशान हूँ। यह विक्षिप्तावस्था नहीं है, पर लगता है कि हो जायेगी। इस भय को नियंत्रित करने के वास्ते मेरे लिये जो भी संभव था वह मैं कर चुका हूँ। मैंने इससे दूर भागने का भी प्रयास किया है, परंतु अपने इस पलायन के अंतिम छोर तक भी मैं इस भय से अपना पीछा नहीं छुड़ा पाया हूँ। मैंने पुनर्जन्म संबंधी कुछ, और किसी हद तक मूढ़तापूर्ण प्रवचन भी सुने हैं और इसी विषय पर हिंदू और बौद्ध धर्म का थोड़ा बहुत साहित्य भी पढ़ा है। परंतु यह सब कम से कम मेरे लिये तो बड़ा असंतोषजनक रहा है। यह मृत्यु का कोई सतही भय नहीं है बल्कि यह मेरे भीतर कहीं गहरे तक बैठा हुआ है।"

भविष्य, आने वाले कल और मृत्यु के मसले को आप कैसे लेते हैं? क्या आप इसकी सच्चाई जानने की कोशिश कर रहे हैं या आपको निरंतरता या अनिरंतरता का एक पक्का आश्वासन, एक तुष्टिप्रद समर्थन पर चाहिए? आप सच जानना चाहते हैं या एक भला लगने वाला उत्तर?

“जब आप बात को इस तरह से कहते हैं तो मैं सच कहूँ, मुझे नहीं मालूम कि मैं किस चीज़ से भयभीत हूँ; परंतु भय मुझमें है और बहुत प्रबल है।”

आपकी समस्या क्या है? आप भय से मुक्त होना चाहते हैं, या मृत्यु का सच जानना चाहते हैं?

“मृत्यु के सच से आपका अभिप्राय क्या है?”

मृत्यु एक अपरिहार्य तथ्य है, आप कुछ भी कर लें यह अवश्यंभावी है, निश्चित है और सत्य है। परंतु क्या आप मृत्यु से परे की सच्चाई जानना चाहते हैं?

“जो कुछ मैंने पढ़ा है और आत्मा-आह्वान की बैठकों में जो कुछ घटते हुए देखा है उससे एक बात तो ज़ाहिर है कि मृत्यु के बाद भी कुछ है तो, जिसकी निरंतरता बनी रहती है। किसी न किसी रूप में विचार की निरंतरता रहती ही है जिसका आप खुद भी ज़िक्र करते रहे हैं। जैसे रेडियो-टीवी से प्रसारित किये जा रहे गीतों, शब्दों और चित्रों को दूसरे छोर पर एक रिसीवर की आवश्यकता होती है, ठीक वैसे ही मृत्यु के उपरांत भी निरंतर बने हुए विचार को स्वयं को प्रकट करने के लिये एक साधन की आवश्यकता होती है। यह साधन कोई माध्यम भी हो सकता है अथवा विचार किसी अन्य तरीके से भी स्वयं को अवतरित कर सकता है। यह सब करीब-करीब साफ है और इस पर प्रयोग किया जा सकता है, इसे समझा जा सकता है। इस विषय में यद्यपि मैं काफी गहरे तक उतर चुका हूँ परंतु तब भी भय की कोई थाह नहीं है और यह भय मेरे विचार से मृत्यु ही से जुड़ा है।”

मृत्यु अवश्यंभावी है। निरंतरता को या तो समाप्त किया जा सकता है या इसे पोसा जा सकता है, बनाये रखा जा सकता है। जो निरंतर है वह कभी भी अपना नवीनीकरण नहीं कर सकता। वह कभी नूतन-नवीन नहीं हो सकता। वह अज्ञात को कभी नहीं समझ सकता। निरंतरता तो एक अवधि है, और जो स्थायी है वह समयातीत नहीं होता। समय और अवधि के माध्यम से समयातीत संभव नहीं है। नूतन के आविर्भाव के लिए अंत का होना ज़रूरी है। यह नूतन विचार की निरंतरता में नहीं है। विचार तो समय में होती एक निरंतर गति है और यह गति स्वयं में उसे समाहित नहीं कर सकती जो समय से संबद्ध नहीं है। विचार की नींव ही अतीत पर खड़ी होती है, यह समय का ही एक स्वरूप है। समय घड़ी की सुइयों से ही जुड़ा नहीं होता, यह विचार के रूप में भी रहता है जो अतीत से उपज कर वर्तमान में होता हुआ भविष्य तक चला जाता है; यह स्मृति, शब्दों, चित्रों, प्रतीकों, अतीत के अभिलेखों और पुनरावृत्ति की एक गति है। विचार व स्मृति शब्दों और पुनरावृत्ति के माध्यम से चल रही निरंतरता है। विचार का अंत ही नूतन का आरंभ है; विचार की मृत्यु ही शाश्वत जीवन है। नूतन के आविर्भाव के लिये सतत रूप से अंत होते रहना आवश्यक है। नूतन समय के क्षेत्र में संभव नहीं है। वह तो बस पल-प्रतिपल अवसान में होता है। अज्ञात के आविर्भाव के लिये प्रत्येक दिवस की मृत्यु आवश्यक है। अंत ही आरंभ है, परंतु भय इस अंत के आड़े आ जाता है।

“मैं जानता हूँ कि मुझमें भय है, परंतु मुझे यह नहीं मालूम कि इससे परे क्या है?”

भय से आपका अभिप्राय क्या है? भय क्या होता है? यह कोई अमूर्त या हवाई

चीज़ नहीं है, इसका कोई अपना आत्मनिर्भर तथा विलग अस्तित्व नहीं होता। यह किसी से जुड़कर ही वजूद में आता है। संबंध की इस प्रक्रिया में ही भय फलता-फूलता है, किसी न किसी संबंध से पृथक भय का अस्तित्व नहीं है। तो वह क्या है जिससे आप भयभीत हैं? आपने बताया कि आप मृत्यु से भयभीत हैं। मृत्यु से आपका मतलब क्या है? हालांकि लोगों के पास अनेक मत-सिद्धांत हैं, अनुमान हैं, कुछ दिखाई देते तथ्य भी हैं, तो भी मृत्यु अभी अज्ञात ही बनी हुई है। हम इसके बारे में कितना भी जान लें, परंतु मृत्यु को ज्ञात की परिधि में नहीं ला सकते; हम इसे कितना भी अपनी पकड़ में लाना चाहें, यह हमारे हाथ नहीं आती। संपर्क तो ज्ञात का ही हिस्सा है, परंतु अज्ञात को हम परिचय की सीमा में नहीं ला सकते; किसी आदत-अभ्यास से हम इस पर कब्ज़ा नहीं कर सकते, और इसलिये भय बना रहता है।

इस ज्ञात की, इस मन की समझ के दायरे में क्या कभी अज्ञात आ सकता है? हमारे हाथ केवल ज्ञात को ही छू पाते हैं, अज्ञात इनकी पहुंच से दूर रहता है। अनुभूति की कामना तो विचार को निरंतरता देना है, अतीत को बल प्रदान करना है, यह तो ज्ञात को ही विस्तार देना है। आप मृत्यु का अनुभव करना चाहते हैं, है न? यद्यपि आप जीवित हैं, परंतु आप जानना चाहते हैं कि मृत्यु क्या है। लेकिन क्या आप जानते हैं कि जीना क्या है? आप जीवन को केवल द्वंद्व, विभ्रम, प्रतिद्वंद्विता और आते-जाते सुख-दुख के रूप में जानते हैं। परंतु क्या यही जीवन है? क्या संघर्ष और दुख ही जीवन है? हम जिसे जीवन कह रहे हैं उस अवस्था में रहते हुए हम एक ऐसी स्थिति का अनुभव चाहते हैं जो हमारी चेतना की परिधि में है ही नहीं। यह पीड़ा, यह संघर्ष, हर्ष में लिपटी हुई यह घृणा—इसी को हम जीना कह देते हैं और इसी जीने के विपरीत को हम अनुभव करना चाहते हैं। इसका विपरीत है : जो है उसकी निरंतरता, शायद कुछ संशोधन के साथ। परंतु मृत्यु वह विपरीत नहीं है। वह तो अज्ञात है। यह ज्ञात, यह ज्ञेय उस अज्ञात को अर्थात मृत्यु को अनुभूत करना चाहता है, परंतु यह चाहे जो कर ले, मृत्यु का अनुभव नहीं कर सकता। इसीलिये यह भयभीत रहता है; यही बात है न?

"आपने इसे स्पष्ट रूप से व्यक्त कर दिया है। यदि जीते जी मैं मृत्यु को जान लूं या अनुभव कर लूं तो निश्चय ही यह भय समाप्त हो जायेगा।"

चूंकि आप मृत्यु का अनुभव नहीं कर सकते अतः आप इससे भयभीत रहते हैं। क्या चेतन मन उस अवस्था का अनुभव कर सकता है जो स्वयं उसके द्वारा लायी ही नहीं जा सकती? वह तो उसी का अनुभव कर पाता है जो कुछ उसके पास है, अर्थात ज्ञात। ज्ञात केवल ज्ञात को ही अनुभूत कर सकता है, अनुभव केवल ज्ञात की परिधि में ही हो सकता है, ज्ञात उसका कभी अनुभव नहीं कर सकता जो इसकी अपनी परिधि से बाहर है। अनुभूति होना अनुभव से एकदम भिन्न बात है। अनुभवकर्ता के रहते अनुभूति हो ही नहीं सकती। परंतु अनुभूति मद्धिम पड़ते-पड़ते जैसे-जैसे लुप्त होती है, अनुभवकर्ता और अनुभव अस्तित्व में आ जाते हैं और तब उस अनुभूति को ज्ञात की परिधि में खींच लिया जाता है। यह ज्ञात, यह अनुभवकर्ता अज्ञात की अनुभूति की उस अवस्था के लिये

लालायित हो उठता है; और चूंकि यह ज्ञात, यह अनुभवकर्ता अनुभूति की अवस्था में प्रवेश नहीं कर पाता, यह भयभीत हो जाता है। यह भय ही है, यह भय से पृथक नहीं है। भय का अनुभव करने वाला इसका साक्षी नहीं है, वह तो स्वयं भय ही है, भय का उपकरण।

"भय से आपका अभिप्राय क्या है? मैं जानता हूँ कि मैं मृत्यु से भयभीत हूँ, परंतु मैं ऐसा महसूस नहीं कर पाता कि मैं ही भय हूँ बल्कि यह महसूस करता हूँ कि मैं किसी चीज़ से भयभीत हूँ। मैं भयभीत तो हूँ परंतु मैं भय से भिन्न हूँ। भय तो एक संवेदन है जो उस 'मैं' से बिल्कुल पृथक है जो कि इस भय को देख रहा होता है, इसका विश्लेषण कर रहा होता है। मैं हूँ अवलोकनकर्ता और भय है जिसका अवलोकन किया जाता है; अवलोकनकर्ता और अवलोकित एक कैसे हो सकते हैं?"

आप कहते हैं कि आप अवलोकनकर्ता हैं, देखने वाले हैं और भय अवलोकित है, देखा जा रहा है। परंतु क्या ऐसा है? क्या अपने गुणधर्म से पृथक आप कोई भिन्न व्यक्ति हैं? क्या आप अपने गुणधर्म से एकरूप नहीं हैं? क्या आप ही अपने विचार, भावनाएं इत्यादि नहीं हैं? आप अपने गुणों से, अपने विचारों से पृथक नहीं हैं। आप अपने विचार ही हैं। विचार ने ही 'आप' को अर्थात किसी अलग अस्तित्व को रच लिया है, विचार के बिना कोई विचारक है ही नहीं। खुद को अस्थायी पाकर विचार ही एक स्थायी, टिके रहने वाले विचारक को गढ़ लेता है, और फिर यह विचारक उस अस्थायी से अलग खुद को एक अनुभवकर्ता, विश्लेषक और अवलोकन करने वाला मान बैठता है। हम सभी किसी न किसी स्थायित्व के लिये लालायित रहते हैं, इसलिये हमारा अस्थायित्व देखकर विचार विचारक को रचता है जो स्थायी मान लिया जाता है। यह विचारक तब स्थायित्व की और भी ऊंची अवस्थाओं की रचना करना शुरू कर देता है, जैसे आत्मन्, उच्चतर स्व आदि आदि। विचार ही इस पूरे महल की नींव होता है। परंतु यह एक अन्य विषय है। अभी हम भय पर चर्चा कर रहे हैं।

भय होता क्या है? आइये इसे देखें।

आप कहते हैं कि आप मृत्यु से भयभीत हैं। चूंकि आप इसका अनुभव नहीं कर सकते इसलिए आप इससे भयभीत हैं। मृत्यु तो अज्ञात है, और आप उसी अज्ञात से भयभीत हैं। ऐसा ही है न? तो क्या आप भला किसी ऐसी चीज़ से भयभीत हो सकते हैं जिसे आप जानते तक नहीं? जो आपके लिये अज्ञात है, उससे आप भयभीत कैसे हो सकते हैं? वास्तव में आप उस अज्ञात से भयभीत नहीं हैं बल्कि ज्ञात के खो जाने से भयभीत हैं, क्योंकि तब आपको पीड़ा हो सकती है या आपका सुख-संतोष छिन सकता है। यह ज्ञात ही है जो भय उत्पन्न करता है, न कि अज्ञात। अज्ञात से भला भय कैसे उपज सकता है? इसे सुख या पीड़ा के रूप में नहीं मापा जा सकता : यह बस अज्ञात है।

भय का अपना कोई अस्तित्व नहीं होता, यह किसी न किसी से जुड़कर आता है। असल में, चूंकि ज्ञात का संबंध मृत्यु से है, आप ज्ञात से भयभीत हैं, है न? चूंकि आप ज्ञात से, एक अनुभव से चिपके हुए हैं अतः आप भयभीत रहते हैं कि आगे न जाने क्या

हो जाए। “क्या हो जाए” अर्थात भविष्य तो प्रतिक्रिया, अनुमान मात्र है, यह ‘जो है’ का विपरीत है। ऐसा ही है न?

“जी हां, लगता तो यही है।”

और, इस ‘जो है’ को क्या आप जानते हैं? क्या आप इसे समझते हैं? आपने क्या कभी इस ज्ञात की कोठरी के कपाट खोलकर इसमें झांक कर देखा है? और क्या आप इस बात से भयभीत नहीं हैं कि न जाने वहां क्या देखने को मिल जाए? क्या आपने ज्ञात का, जो कुछ आपके पास है उसका कभी निरीक्षण-परीक्षण किया है?

“नहीं, वैसा तो मैंने नहीं किया है। मैं तो यह मानकर चला हूँ कि ज्ञात तो है ही। मैंने अतीत को ऐसे ही स्वीकार कर लिया है जैसे कोई धूप या वर्षा को स्वीकार कर लेता है। मैंने कभी इस पर गौर नहीं किया। हम तो इस बारे में करीब-करीब अनजान बने रहते हैं ठीक वैसे ही जैसे अपनी परछाईं के बारे में। अब जब कि आप इसकी चर्चा कर रहे हैं तो मुझे भी यह पता लगाने में डर लग रहा है कि वहां न जाने क्या हो।”

क्या हममें से अधिकतर लोग स्वयं को देखने से घबराते नहीं हैं? हम कहीं अप्रिय चीज़ों को न उघाड़ दें, इसलिये समझते हैं कि बेहतर है देखें ही नहीं। हम ‘जो है’ उससे अनभिज्ञ बने रहना अधिक पसंद करते हैं। हम केवल इसी बात से भयभीत नहीं हैं कि भविष्य में क्या होगा बल्कि जो वर्तमान में घटित हो सकता है हम उससे भी भयभीत रहते हैं। हम जैसे हैं वैसा ही स्वयं को जानने से डरते हैं, और ‘जो है’ से इस प्रकार नज़र बचाना कि हमें ‘जाने क्या हो’ इससे भयभीत रखता है। हम इस तथाकथित ज्ञात से डरे-डरे पेश आते हैं और इसीलिये अज्ञात, मृत्यु के प्रति भी हमारा यही रवैया होता है। ‘जो है’ से बचना तुष्टि की लालसा ही है। हम सुरक्षा चाह रहे हैं, हमारी लगातार यह प्रबल अपेक्षा रहती है कि हमें परेशानी न हो। और परेशानी न होने की इस इच्छा के चलते ही हम ‘जो है’ से नज़रें बचाते हैं और ‘जाने क्या हो’ से डरते रहते हैं। जो है, उसके प्रति अनजान रह जाना ही भय है, और हम जीवन भर भय की इस अवस्था में ही जिया करते हैं।

“परंतु इस भय से छुटकारा कैसे हो?”

किसी चीज़ से छुटकारा पाना हो तो उसे समझना होगा। क्या यह भय है, या महज़ न देखने की मर्ज़ी है? देखना न पड़े, यह इच्छा ही भय ले आती है। जब आप ‘जो है’ का अर्थ पूर्णतया समझना नहीं चाहते तब भय रोक-टोक का काम करता है। ‘जो है’ की तमाम पड़ताल के प्रति आँख मूंदते हुए आप एक तुष्टिप्रद जीवन व्यतीत कर सकते हैं, और अधिकतर लोग ऐसा कर भी रहे हैं, परंतु वे खुश नहीं हैं और न ही वे लोग खुश हैं जो ‘जो है’ का सतही अध्ययन करके स्वयं को बहला लेते हैं। खुशी का एहसास सिर्फ उन्हें हो सकता है जो अपनी खोज को गंभीरता से लेते हैं; भय से मुक्ति केवल उन्हीं के लिए है।

“तो ‘जो है’ को कोई कैसे समझे?”

‘जो है’ को संबंधों के दर्पण में देखना होगा, हर शै के साथ अपने संबंध में। ‘जो है’

को उससे कहीं दूर जाकर, उससे विरत होकर नहीं समझा जा सकता, और न ही उसे तब समझा जा सकता है जब उसके और आपके बीच कोई उसकी व्याख्या करने वाला या उसका तर्जुमा करने वाला आ जाये जो स्वीकार या अस्वीकार कर रहा हो। 'जो है' को तभी समझा जा सकता है जब मन पूरी तरह निष्क्रिय हो, जब वह 'जो है' के मुतल्लिक कुछ कर न रहा हो।

"क्या इस तरह निष्क्रियतापूर्वक सजग होना अत्यंत कठिन नहीं है? है तो, अगर विचार मौजूद हैं।

जीवन भाष्य,
द्वितीय भाग से

सात

प्रश्नकर्ता : मृत्यु में ऐसा क्या है कि हम इससे भयभीत हों?

कृष्णमूर्ति : क्या आप जानते हैं कि मृत्यु क्या है?

प्रश्नकर्ता : हां।

कृष्णमूर्ति : क्या आप इससे भयभीत नहीं हैं?

प्रश्नकर्ता : नहीं।

कृष्णमूर्ति : क्या आप अपना अंत आ जाने से भयभीत नहीं हैं? तब तो आप ज़िंदगी से एकदम उचाट लगते हैं। अंत आ जाने के सिवा मृत्यु और क्या है? क्या आप अपनी तमाम स्मृतियों, अनुभवों, अपने प्रियजनों—वह सब जो आप ही हैं उसके छूट जाने के प्रति भयभीत नहीं है?

प्रश्नकर्ता : हमें मृत्यु का कुछ पता नहीं है, हम बस इतना जानते हैं कि किसी और की मृत्यु क्या होती है।

कृष्णमूर्ति : यह बात तो साफ है कि मृत्यु एक ऐसी घटना है जिसे हम नहीं जानते, हम उसका अनुभव केवल अप्रत्यक्ष रूप से ही कर सकते हैं। मरने का मतलब है अंत आ जाना—शारीरिक और मानसिक, दोनों स्तरों पर।

प्रश्नकर्ता : हमारा सरोकार मृत्यु की समस्या से नहीं, बल्कि मृत्यु के भय की समस्या से है।

कृष्णमूर्ति : तो आइये, इस समस्या पर साथ-साथ विमर्श करें, अनुभव करें, साथ-साथ इसका अन्वेषण करें। हम मृत्यु से डरे रहते हैं। हम किसी ऐसी चीज़ से भयभीत नहीं होते जिसे हम निश्चित और पक्के तौर पर जानते हैं। केवल उसी मामले में हम भयभीत होते हैं जो अनिश्चित है, जो हमें हानि पहुंचा सकता है, जो हमें असुरक्षित बना सकता है। मृत्यु एक अनिश्चितता है और इसी कारण हम इससे भयभीत रहते हैं। यदि हम मृत्यु की समग्र अंतर्वस्तु, उसकी समग्र अर्थवत्ता जान पाते और यह भी जान पाते कि उस पार का संपूर्ण अभिप्राय क्या है तो हमें मृत्यु का कोई भय न रह जाता। नहीं न? तो हम यह कैसे जानें कि यह मरना होता क्या है? जीते जी हम मृत्यु को कैसे जानें?

प्रश्नकर्ता : इसका अनुभव किये बिना हम इसे कैसे जान सकते हैं?

कृष्णमूर्ति : बस हम यही देखने जा रहे हैं। हमारे लिये इस मन के तौर-तरीकों को समझना कितना कठिन है। मन अज्ञात को ज्ञात बना लेना चाहता है, और यह हमारी कठिनाइयों में से एक है। मन कहता है, "यदि मैं यह नहीं जान पाता कि मृत्यु के पार क्या है तो मैं भयभीत रहता हूँ, परंतु यदि आप मुझे इस बात का पक्का आश्वासन दे सकें कि निरंतरता बनी रहेगी तो मेरा डर जाता रहेगा।" मन निरंतरता चाहता है, परंतु जब तक हम निरंतरता चाहते रहेंगे तब तक भय भी बराबर बना रहेगा। यह मृत्यु नहीं है जिससे हम भयभीत हैं, बल्कि हम अनिश्चित रहने से डरते हैं। हम अपना काम बखूबी तभी कर

सकते हैं जब हम अपने आप को सुरक्षित महसूस कर रहे हों, परंतु इससे वंचित कर दिये जाने पर हम भयभीत हो उठते हैं। अतः यदि हम यह पता लगा सकें कि मृत्यु क्या है तब हम भय से मुक्त होंगे।

प्रश्नकर्ता : यदि मैं मृत्यु को एक अंत मान लेता हूँ, मुझमें सुरक्षा का एहसास कैसे आ सकता है जब तक मैं निरंतर बना रहना चाहता हूँ? दूसरी बात यह है कि मैं निरंतरता की अपनी इच्छा से कैसे छुटकारा पाऊं?

कृष्णमूर्ति : हम इससे छुटकारा तभी पा सकते हैं जब हमें इस बात का भान हो जाए कि निश्चितता जैसा कहीं कुछ नहीं।

प्रश्नकर्ता : परंतु हम तो भविष्य के बारे में निश्चित होना चाहते हैं।

कृष्णमूर्ति : क्या यह संभव है? हम सुनिश्चित हो जाना चाहते हैं कि हम अतीत में जीते रहे हैं और भविष्य में भी निरंतर बने रहेंगे। धार्मिक ग्रंथ जो कुछ बताते हैं वह सब हम पढ़ सकते हैं, अन्य लोगों के अनुभव हम सुन सकते हैं और माध्यम बने लोगों से आश्वस्ति चाह सकते हैं, परंतु यह सब क्या हमें भय से मुक्त कर पाएगा? जब तक हम निश्चितता को चाहते रहेंगे तब तक अनिश्चितता की आशंका से त्रस्त रहेंगे। देखिये यह कोई श्लेष-पहेली नहीं है। जो हम हैं उसका विपरीत तलाशना, उसका विलोमसूत्र ढूंढ़ते रहना, जो हम हैं उससे आँखें मुंदे रहना, उससे पलायन करते रहना—यह सब भय उत्पन्न करता है, है न? अतः हमें यह स्पष्ट समझना होगा कि भय होता क्या है? भय क्या है?

मृत्यु एक तथ्य है और हम कहते हैं कि हम उस तथ्य से डरते हैं। भय क्या उस तथ्य से उपजता है, या 'मृत्यु' शब्द से? या, क्या यह संवेदन, शब्द से मुक्त है? हम शब्दों पर प्रतिक्रिया करते हैं। ईश्वर, प्रेम, साम्यवाद, गणतंत्र जैसे शब्द हमारे भीतर एक निश्चित प्रकार की स्नायविक और मानसिक प्रतिक्रिया उपजाते हैं। है कि नहीं? यदि हम ईश्वर में विश्वास रखते हैं और उसके विषय में चर्चा करते हैं तो हम बेहतर महसूस किया करते हैं। मृत्यु, घृणा, जर्मन, रूसी, हिंदू, नीग्रो—ये सभी शब्द हमारे लिए बड़ी गहरी अहमियत रखते हैं। इसलिये हमें यह खोज निकालना होगा कि जिस संवेदन को हम भय कहते हैं, क्या वह यथार्थ में है, या वह हमारे द्वारा प्रयुक्त शब्दों का परिणाम मात्र है।

प्रश्नकर्ता : शब्द को हमारे द्वारा दिया गया अर्थ ही यथार्थ है।

कृष्णमूर्ति : आइये इसे देखें। यदि हम सचमुच भय से मुक्त होना चाहते हैं तो हमें यह खोज निकालना होगा कि इसके प्रति सही दृष्टिकोण क्या है। मृत्यु नाम की इस चीज़ से भयभीत करने वाले अनेक कारक तो हमारी नज़र में हैं, परंतु क्या ऐसा नहीं हो सकता कि इसका कोई अन्य कारण भी हो? क्या अपने अर्थ और उसके द्वारा हमारे मन पर छोड़ी गई छाप से जुड़े होने के कारण यह 'मृत्यु' शब्द ही तो कहीं हमारे भय के लिये ज़िम्मेदार नहीं है? कृपया समझने की कोशिश कीजिये और फिर जो बात निकल कर आयेगी उसे हम लोग देख पाएंगे। यह 'मृत्यु' शब्द मृत्यु नहीं है, फिर भी हमारे लिये इसका बड़ा महत्त्व है। है न?

प्रश्नकर्ता : इस शब्द से अंत का आभास होता है।

कृष्णमूर्ति : जी हां, और साथ ही जाति, वर्ग और व्यक्ति के सारे भय का भी। हमारा मन केवल इस शब्द के ही पूर्वप्रभावों से ग्रस्त नहीं है बल्कि ऐसे तमाम और भी शब्द हैं, जैसे पूंजीवाद, फासीवाद, शांति, युद्ध इत्यादि। शब्द, प्रतीक और छवि हमारे लिये बहुत महत्त्व रखते हैं—तथ्यों से भी अधिक, क्योंकि बिना शब्द के हम सोच ही नहीं पाते। शब्द ही छवि है, प्रतीक है। और हमारा सोचना है शब्दीकरण, प्रतीक बनाना, छवि बनाना और नाम देना। यदि हमारे पास कोई भी छवि, प्रतीक या शब्द न होते, तो स्मृति भी नहीं होती। अतः यह मृत्यु का तथ्य नहीं बल्कि मृत्यु शब्द है जो हममें डर का एहसास भर देता है। है न? हम यह भी देखते हैं कि भय तब उत्पन्न होता है जब निश्चितता के आदी इस मन का सामना अनिश्चितता से होता है, जब ज्ञात और अतीत से उत्पन्न इस मन का सामना अज्ञात से, भावी से होता है।

तो अगला प्रश्न यह है कि भय नामक इस संवेदन को यदि हम भय नाम न दें तो क्या तब भी यह यूं ही बना रहेगा? क्या यह संवेदन इस शब्द के बिना भी मौजूद रहेगा?

प्रश्नकर्ता : यह शब्द तो उस संवेदन का ठप्पा पर है। हमें संवेदन को कोई न कोई नाम देना पड़ता है, उसे पहचानने का हमारे पास वही एक तरीका होता है।

कृष्णमूर्ति : जब हम मृत्यु के भय पर गौर करते हैं, तो क्या यह संवेदन पहले आता है या शब्द पहले आता है? क्या शब्द संवेदन को पैदा करता है या संवेदन शब्द से स्वतंत्र होता है? यह सचमुच एक बहुत महत्त्वपूर्ण प्रश्न है, क्योंकि यदि हम इसकी गहराई में जाएं तो मेरे ख्याल में हम कुछ ऐसा देख पाएंगे जो बहुत महत्त्वपूर्ण है।

हमारा सामना जब मृत्यु के तथ्य से होता है तब हम उसे नाम दे देते हैं और वह नाम हममें अनिश्चित होने का एहसास ले आता है जो हमें अच्छा नहीं लगता और हम भयभीत हो जाते हैं। तो मृत्यु तो एकदम नयी चुनौती है, है कि नहीं? परंतु हम ज्यों ही इसे एक नाम दे देते हैं, त्यों ही इसे पुरातन बना डालते हैं। यह मन जब भी किसी नवीन तथ्य, नवीन घटना, नवीन संवेदन से दो-चार होता है, तुरंत ही यह उसका कोई नाम रखकर उसे पहचान दे देता है, उसे निर्धारित कर देता है, क्योंकि हमें लगता है कि किसी भी चीज़ को समझने का बस यही तरीका है—नये को पुराना कर देना। मन इसी तरह से कार्य करता है, है न? यही तो है जिसे हम एकदम किया करते हैं। संभवतः यह एक अचेतन क्रिया है, परंतु हमारी त्वरित क्रिया होती यही है। यह मन नूतन के बारे में सोच ही नहीं सकता इसलिये उसे तुरंत पुरातन के रूप में बदल देता है। सोचना शब्द-प्रयोग की ही प्रक्रिया होती है न? जब इस मृत्यु नामक शब्द द्वारा हमें चुनौती दी जाती है तब हम इसके बारे में सोचने के ज़रिये प्रतिक्रिया करते हैं, और यही शब्द-प्रक्रिया हममें डर पैदा करती है। अब सवाल यह है कि क्या यह संभव है कि जिसे हमने मृत्यु नाम दे दिया है, वह जब हमें चुनौती दे तो हमारी प्रतिक्रिया शब्दीकरण की न हो, हम शब्दों को बीच में न लाएं?

प्रश्नकर्ता : मुझे नहीं लगता।

कृष्णमूर्ति : यदि आपने इसे आज़माया नहीं है तो आप 'हां' या 'ना' कैसे कह सकते हैं। जब मैं आपसे यह प्रश्न पूछता हूँ तो आपके समक्ष एक चुनौती खड़ी हो जाती

है। और आपकी तुरंत प्रतिक्रिया कोई उत्तर ढूंढ़ निकालने की होती है, आपका मन सक्रिय हो जाता है और तत्काल शब्द बनने लगते हैं। कृपया अपने मन पर ध्यान दें तो आप देखेंगे कि जब आपसे कोई ऐसी बात पूछी जाती है जिसे आप जानते नहीं हैं तब भी आपका मन चुप नहीं बैठता और इस नयी बात को समझने का प्रयत्न करता है, सही उत्तर के लिये तुरंत ही अपनी स्मृति के पुरातन अभिलेखों को उलट-पलट कर देखने लगता है।

प्रश्नकर्ता : आपकी विवेचना का तर्कसंगत निष्कर्ष तो यही निकलता है कि विचार प्रक्रिया को रोक दिया जाना चाहिये।

कृष्णमूर्ति : देखिये यह कोई तार्किक विवेचना नहीं है बल्कि एक तथ्यपरक अवलोकन है। यदि आप इसे आज़माते हैं तो स्वयं देख लेंगे कि क्या होता है। मन के समक्ष जब कोई ऐसी चीज़ आती है जिसके लिये उसके पास कोई उत्तर नहीं होता, कोई शब्द नहीं होता तब वह खामोश हो जाता है। जब हम कोई बिलकुल नयी चीज़ देखते हैं जिसे हम पहचानते न हों और जो हमारे संज्ञान की किसी भी अन्य चीज़ के समरूप न हो तो हम उसे नाम नहीं दे पाते। यह जानने के लिये हम गौर से देखते हैं कि वह चीज़ है क्या, और इस सजग-सचेत अवधान की अवस्था में शब्दों का कोई सिलसिला नहीं होता। जैसे ही हम शब्दों को बीच में लाना शुरू करते हैं, कोई भी अनुभव अपनी नवीनता खो देता है और पुराना पड़ जाता है, ऐसा ही होता है न?

प्रश्नकर्ता : यदि चीज़ एकदम नयी हो तो उसमें कुछ ऐसा होता ही नहीं जिसके बारे में शब्द लाये जाएं।

कृष्णमूर्ति : बिल्कुल; तो मौत एकदम नयी घटना है यदि हम उसे शब्दों में न ढालें। तब यद्यपि यह एक शब्द होता है, उस शब्द की अंतर्वस्तु भी मौजूद होती है, लेकिन इसका संस्कारबद्ध करने वाला गुणधर्म इससे बाहर निकल चुका होता है। तब हम मृत्यु को देख पाते हैं। तो मन की वह कौन सी अवस्था है जब उसे नूतन द्वारा चुनौती दी गई हो और वह तुरंत प्रत्युत्तर देने के लिये शब्दों का सहारा न ले, पुरातन स्मृति के पन्नों में ढूंढ़ मचाकर तत्क्षण कोई प्रत्युत्तर भी प्रस्तुत न करे? क्या तब वह मन भी नूतन नहीं होता? उसके पुरातन संस्कार ध्वस्त हो गये होते हैं, सारा उबाल उतर गया होता है, और खोज का अवसान हो जाता है। तो जब चुनौती नयी हो और मन भी नया हो तब भय की गुंजाइश बचती कहां है?

प्रश्नकर्ता : वह मन तो नया है परंतु चुनौती अब भी पुरानी है—नाम न दें तब भी।

कृष्णमूर्ति : मृत्यु तभी पुरानी होती है जब हम उसे पहचान रहे हों, परंतु पहचानते हम इसे केवल शब्दों और स्मृति के माध्यम से ही हैं जो कि हमारी संस्कारबद्धता है। मृत्यु पुरानी इसलिए होती है क्योंकि इसके तार भय, विश्वास, सांत्वना और पलायन से जुड़े हैं। हम इसे ज्ञात के ज़रिये ही समझना चाहते रहे हैं, हमारा ज़रिया पुराना ज़रिया ही रहा है, और उसी वजह से हम इसे मृत्यु कहकर पहचानते हैं। किंतु यदि हम एक नया दृष्टिकोण अपना सकें, इसके समक्ष नूतन मन के साथ आएं, पुरातन का चोला पूरी तरह उतार

फेंकें, तो संभव है मृत्यु जैसा कि हम उसे जानते हैं हो ही नहीं, एकदम कुछ और ही हो।

प्रश्नकर्ता : इतना तो हमें जानना ही चाहिये कि हम किस चीज़ को देख रहे हैं, भले ही हम उसे कोई नाम न दे रहे हों।

कृष्णमूर्ति : वही करने के लिए तो मैं कह रहा हूँ। आइये, हम यह जानने का प्रयास करते हैं कि क्या मन के लिये यह संभव है कि वह शब्दीकरण की, शब्दों को लाने की प्रक्रिया बंद कर दे और केवल अवलोकन करे। मन यदि ऐसा कर पाता है तो वह चीज़ जिसे मन देख रहा है—और वह नयी है—क्या इस मन से अलग है जो स्वयं भी नया है? इस चुनौती के और इसके अवलोकनकर्ता के, देखने वाले के बीच क्या कोई विभाजन है?

प्रश्नकर्ता : अवलोकनकर्ता ही चुनौती को रचता है।

कृष्णमूर्ति : उत्तर देने में उतावलापन न दिखाएं। जो मैं कह रहा हूँ, कृपया उसकी अपने हिसाब से व्याख्या न करें क्योंकि तब आप इसके समग्र अभिप्राय को नहीं समझ पाएंगे।

प्रश्नकर्ता : यदि वे दोनों नये हैं तो हम कैसे कह सकते हैं कि वे एक ही हैं या भिन्न हैं?

कृष्णमूर्ति : जब मन नया है तो क्या वह चुनौती—वह भी नयी है—उसके बाहर है?

इस सब के साथ समस्या यह है कि जब तक हम इसे आज़मा न लें तब तक इसका कोई अर्थ, कोई महत्त्व नहीं है। जो नया है उसकी मृत्यु नहीं है, वह अनवरत हो रहा है, वह कभी पुराना नहीं होता। यह केवल पुराना ही है जो अंत से भयभीत रहता है। और यदि हम इस प्रश्न में बहुत-बहुत गहराई तक जायें तो हम देख पायेंगे कि मन के लिए मुक्त होना संभव है—न केवल मृत्यु के भय से, बल्कि किसी भी तरह के भय से।

सीऐटल,
3 अगस्त, 1950

आठ

भय और दुख पर चर्चा करते हुए हमें मृत्यु और वृद्धावस्था की समस्या पर भी गौर करना होगा। मृत्यु किसी रोग, किसी दुर्घटना या बुढ़ापे व क्षीणता के कारण हो सकती है। शारीरिक संरचना के अंत हो जाने का तथ्य तो स्पष्ट है। साथ ही इस शरीर के वृद्धावस्था की ओर अग्रसर होने, बुढ़ापा आने, रुग्ण होने और मर जाने की सच्चाई भी ज़ाहिर ही है। जैसा कि हम देखते हैं कि बुढ़ापा आने के साथ-साथ शरीर में तमाम समस्याएं पैदा होती हैं, कुरूपता आती है, कैसे व्यक्ति अधिक शिथिल, अधिक असंवेदनशील होता जाता है। वृद्धावस्था समस्या तब बनती है जब हमें जीना नहीं आता। हो सकता है कि हमने कभी जीवन जिया ही न हो—हम तो बस संघर्ष, पीड़ा और द्वंद्व को जीते रहे हैं, जैसा कि हमारे चेहरे, हमारे शरीर और हमारे रवैये से साफ झलकता है।

जब शारीरिक संरचना की उम्र पूरी हो जाती है, तो मृत्यु अपरिहार्य है। हो सकता है कि वैज्ञानिक कोई ऐसी दवा खोज निकालें जो और सौ-पचास बरस उम्र बढ़ा दे, पर आखिर तो मौत आनी ही है। वृद्धावस्था की, याद्दाश्त कमज़ोर पड़ते जाने की, सठियाने लगने की, समाज के लिये अधिकाधिक अनुपयोगी होते जाने वगैरह की समस्या तो हमेशा है ही। और मृत्यु तो है—मृत्यु यानी कुछ ऐसा जो अपरिहार्य है, अनजाना है, सर्वाधिक अप्रिय, सबसे ज़्यादा डरावना। इससे भयभीत रहने की वजह से हम कभी इसके बारे में बात तक नहीं करते, और यदि करते भी हैं तो इस बारे में हमारे पास मत-सिद्धांत हैं, सुहाने वाले सूत्र हैं—वह चाहे पूरब का 'पुनर्जन्म' हो या पश्चिम का 'मृतोत्थान'। या फिर बौद्धिक स्तर पर हम मृत्यु को स्वीकार कर लेते हैं और कहने लगते हैं कि इसे तो टाला नहीं जा सकता, और यह भी कि जैसे हर शै का अंत होता है, मेरा भी होगा। तो कोई तर्कसंगत व्याख्या हो, या कोई सुहावना सूत्र या कोई पलायन—बात एक ही है।

लेकिन मृत्यु है क्या? शरीर का अंत होने के अलावा मौत और क्या है? यह प्रश्न पूछते हुए हमारे लिए यह पूछना भी ज़रूरी है कि जीना क्या है? इन दोनों को पृथक नहीं किया जा सकता। यदि आप कहते हैं "मैं सचमुच जानना चाहता हूँ कि मृत्यु क्या है," तो आपको इसका उत्तर तब तक नहीं मिल पाएगा, जब तक आप यह न जान लें कि जीना क्या है। तो क्या है हमारा जीवन? जन्म के पल से लेकर मृत्यु के पल तक इसमें अनंत संघर्ष चलता रहता है, यह एक लड़ाई का मैदान बना रहता है; और यह लड़ाई हमारे भीतर ही नहीं चलती बल्कि अपने पड़ोसी, अपने पति-पत्नी, बच्चों आदि सभी के साथ चला करती है—और यह लड़ाई है दुख, भय, व्यग्रता, अपराधबोध, अकेलेपन और हताशा की। और इसी हताशा में मन ने कुछ आविष्कार कर लिये हैं, जैसे ईश्वर, उद्धारकर्ता, संत, आदर्श नायकों का अनुकरण, रीति-रिवाज और युद्ध—असली लड़ाई,

एक दूसरे को मौत के घाट उतार देना। यही है हमारा जीवन। इसी को हम जीना कहते हैं जिसमें हो सकता है कभी-कभी कोई आनंद का पल आ जाए, आँखों में कभी-कभार चमक भी आ जाए, परंतु है हमारा जीवन यही। और इसी जीवन से हम चिपके रहते हैं क्योंकि हम कहते हैं "कम से कम इसे मैं जानता तो हूँ, और कुछ न होने से यही बेहतर है।"

तो हम जीवन से भयभीत हैं, हम मृत्यु से, अंत से भयभीत हैं। और जब मृत्यु अपने अटल रूप में आ ही जाती है तो हम इससे जूझने लगते हैं। हमारा जीवन खुद के साथ और खुद से जुड़ी तमाम चीज़ों के साथ चलते रहने वाला एक त्रासद युद्ध है। और इसी युद्ध को हम प्रेम कह देते हैं, जबकि यह है और-और सुख, और-और लालासा तथा सेक्स द्वारा अथवा अन्य प्रकार से उसकी पूर्ति—जागने से सोने तक यही है हमारा जीवन।

जीना समझे बगैर मृत्यु से निजात की राह तलाशना बेमानी है। जब हम यह जान लेते हैं कि जीना क्या है, जीना यानी दुख का अंत, संघर्ष का अंत, जीवन को युद्धभूमि न बनने देना, तब मानसिक, आंतरिक रूप से हम देख पाते हैं कि मरना ही जीना है—प्रतिदिन प्रत्येक चीज़ के प्रति मर जाना, उस तमाम संचय के प्रति मर जाना जिसे हम बटोरते रहे हैं, ताकि मन हर दिन एकदम नया, कोरा और निर्दोष रहे। इसके लिये विराट अवधान, ज़बरदस्त तवज्जो की दरकार है; लेकिन यह तब तक संभव नहीं है जब तक दुख का, अर्थात् भय का, अतएव विचार का अंत न हो। तब मन पूरी तरह मौन हो जाता है—मंद-मूढ़ मन नहीं, न ही अनुशासन, योगाध्ययन और उस जैसी तमाम तिकड़मों में उलझा हुआ असंवेदनशील मन। उस निश्चल मन के रहते मरना जीवन में ही समाहित है, जिसका तात्पर्य हुआ : प्रेम के अभाव में मृत्यु उजागर नहीं होती। प्रेम कोई स्मृति नहीं है। जीवन, प्रेम और मृत्यु साथ-साथ चलते हैं, वे एक दूसरे से जुदा नहीं हैं। अतः जीवन है हर रोज़ ताज़गी में जीना; और वैसी स्पष्टता के लिये, निर्दोषता के लिये मन की उस अवस्था की मृत्यु आवश्यक है जिसमें हमेशा वह केंद्र, वह 'मैं' बना रहता है।

प्रेम नहीं है तो सद्गुण नहीं है। प्रेम नहीं है तो शांति नहीं है; न ही कोई संबंध है। और मन के लिये वही एक आधार है जहां से वह उस आयाम की अमापनीय गहराई में पैठ सकता है जहां केवल सत्य विद्यमान है।

यूरोप की वार्ताएं 1968
पेरिस, 28 अप्रैल 1968

नौ

हमारे लिए जीवन के एक और प्रसंग को समझना भी ज़रूरी है, और वह है मृत्यु : वृद्धावस्था या रुग्णता के कारण, दुर्घटनावश अथवा सामान्य मृत्यु। हमारी उम्र तो ढलती ही है। और वह ढलना दर्शाता है हम किस ढंग से जीते रहे हैं, यह हमारे चेहरे पर झलकता है कि हम अपनी किस्म-किस्म की भूख को कितने असभ्य और अमानुषिक ढंग से तुष्ट करते रहे हैं। हम अपने छुटपन की संवेदनशीलता खो बैठे हैं—तब हम कोरे और निष्कपट हुआ करते थे। उम्र में हम जैसे जैसे बड़े होते जाते हैं वैसे वैसे हम संवेदनशून्य, मंद और असजग होने लगते हैं और शनैः शनैः श्मशान की ओर बढ़ते जाते हैं। तो जीवन में वृद्धावस्था आती है; और फिर एक और अद्‌भुत घटना भी होती है जिसे मृत्यु कहते हैं, हममें से अधिकतर लोग जिससे बुरी तरह भयभीत हैं। और अगर हम भयभीत नहीं हैं तो समझ लीजिये कि इस घटना का हमने बौद्धिक स्तर पर कोई औचित्य ढूंढ़ लिया है और उस बौद्धिकता के फरमान को स्वीकार कर लिया है। पर भय तो बना ही रहता है। और इस अवयव-संस्थान का, इस शरीर का अंत होना तो प्रत्यक्ष है ही। हम इसे सहज स्वीकार कर लिया करते हैं क्योंकि हम प्रत्येक चीज़ को मरता हुआ देखते हैं। परंतु जिस बात को हम स्वीकार नहीं करते वह है मानसिक अंत, इस 'मैं' का अंत, 'मैं' जिसमें शामिल है परिवार, मकान, सफलता, जो कुछ मैं कर चुका हूँ और जो कुछ और करना चाहता हूँ वह सब, उपलब्धियां, कुंठाएं—और इससे पहले कि मैं न रहूँ अभी और भी कुछ करना बाकी है! हम डरते हैं कि 'मैं', 'अहं', 'आत्मा'—ये तमाम रूप, तमाम संज्ञाएं जो हम अपने अस्तित्व के केंद्र को दिया करते हैं—कहीं खत्म न हो जायें।

क्या यह खत्म हो जाता है? अथवा क्या इसकी कोई निरंतरता है? पूरब वाले कहते हैं कि इसकी निरंतरता बनी रहती है, पुनर्जन्म होता है; यदि आप वर्तमान जीवन समुचित रूप से जियें तो आपको अगले जनम में बेहतर ज़िंदगी मिलेगी। यदि आप पुनर्जन्म में विश्वास करते हैं, जिस तरह पूरा एशिया करता है (मुझे नहीं मालूम कि वे ऐसा क्यों करते हैं, परंतु यह विश्वास उनको अत्यधिक राहत देता है), तो उस विश्वास में निहित है—यदि आप उसे ध्यान से देखें—कि जो कुछ आप अभी कर रहे हैं या दिन-प्रतिदिन किया करते हैं उसका बहुत भारी महत्त्व है क्योंकि अगले जन्म में या तो आप उसकी कीमत चुकाएंगे या आपको उसका पुरस्कार मिलेगा जो इस पर निर्भर करेगा कि आपने यह जीवन किस तरह जिया है। तो महत्त्व इस बात का नहीं है कि आप जो विश्वास करते हैं वही अगले जन्म में होने वाला है, बल्कि महत्त्व इस बात का है कि आप अब क्या हैं और कैसे जी रहे हैं। और यही तब भी निहित है जब आप मृतोत्थान में, रिज़रक्शन में विश्वास रखते हैं; यहां (पश्चिम में) आपने एक व्यक्ति के रूप में इसका प्रतीक बना लिया है और उस व्यक्ति की आप आराधना करते हैं क्योंकि आप स्वयं यह नहीं जानते हैं कि अपने इसी जीवन में

अभी आपका नया जन्म कैसे हो (न कि "स्वर्ग में ईश्वर के दाहिने हाथ की ओर आसन पाना"—चाहे इसका जो भी कुछ मतलब होता हो)।

तो महत्त्व इस बात का है कि आप अब कैसे जी रहे हैं—न कि इसका कि आपका विश्वास क्या है—यानी इस बात का कि आप क्या हैं और क्या कर रहे हैं। परंतु हमारा डर यह रहता है कि 'मैं' नामक इस केंद्र का कहीं अंत न हो जाये। हम पूछ रहे हैं : क्या इसका अंत होता है? इसे गौर से सुनिए!

आप विचार में रहते आये हैं अर्थात आप सोचने को अत्यधिक महत्त्व देते रहे हैं। लेकिन सोच पुरानी हुआ करती है, यह नयी कभी नहीं होती; विचार करना स्मृति की ही निरंतरता है। यदि आप उसी में जीते रहे हैं तो ज़ाहिर है कि यह किसी न किसी तरह की निरंतरता ही है। और यह एक ऐसा नैरंतर्य है जो मृत है, चुक गया है, खत्म हो चुका है। यह कुछ ऐसा है जो पुराना है; अवसान में ही नये का प्रस्फुटन संभव है। अतः मरण को समझना बहुत महत्त्वपूर्ण है; मर जाना, जो कुछ हम जानते हैं उसके प्रति मृत हो जाना। मुझे मालूम नहीं कि आपने कभी यह करके देखा है या नहीं। ज्ञात से मुक्त होना, अपनी स्मृति से मुक्त होना, चाहे कुछ ही दिनों के लिये सही, अपने सुख विशेष से मुक्त होना, बिना किसी उधेड़बुन के, बिना किसी डर के, अपने परिवार के प्रति, अपने मकान के प्रति, अपने नाम के प्रति मृत हो जाना, पूरी तरह अनजान-अनाम हो जाना। केवल वही, जो पूर्णतया अज्ञात-अनाम है, अहिंसा की स्थिति में होता है, उसमें लेशमात्र भी हिंसा नहीं होती। तो इस तरह हर रोज़ मर पाना—महज़ एक ख्याल के तौर पर नहीं, बल्कि सचमुच—कभी ऐसा करिये, करके देखिये तो सही!

आप जानते ही हैं कि व्यक्ति कितना कुछ इकट्ठा कर लिया करता है, सिर्फ किताबें, मकान या बैंक खाते ही नहीं बल्कि आंतरिक तौर पर भी, अपमान और खुशामद की स्मृतियां, सनकभरी उपलब्धियों की स्मृतियां, अपने उस अनुभव विशेष से चिपके रहने की याद, जिसने हमें कोई ओहदा दिला दिया हो। इनको बिना तर्क-वितर्क किये, बिना कोई बहस किये, बिना किसी भय के बस छोड़ देना—इन सब के प्रति मर जाना—कभी यह करके देखिये। पूरब में एक प्रथा हुआ करती थी कि कोई धनाढ्य व्यक्ति प्रति पांच वर्ष बाद या कुछ अवधि के बाद अपना सब कुछ त्याग दिया करता था, धन इत्यादि सब, और ज़िंदगी नये सिरे से शुरू करता था। आजकल आप ऐसा नहीं कर सकते, इतने अधिक लोग हैं, हर कोई आपकी नौकरी के पीछे है, जनसंख्या बेतहाशा बढ़ रही है वगैरह। पर मानसिक तौर पर ऐसा कर पाना—अपनी पत्नी, अपने वस्त्र, अपने पति, अपने बच्चे, अपने मकान को छोड़ने की बात नहीं है, मसला अंदरूनी है—अभिप्राय यह कि किसी भी तरह की आसक्ति का न होना। इसमें अगाध सौंदर्य है। आखिरकार प्रेम यही तो है, है कि नहीं? प्रेम आसक्ति नहीं है। जहां आसक्ति है, वहां भय है। और भय अनिवार्य तौर पर आधिपत्य, स्वामित्वभाव, शोषण और ज़ोर-ज़बरदस्ती में परिवर्तित हो जाता है।

तो ध्यान है जीवन की समझ, अर्थात् व्यवस्था का आगमन। व्यवस्था ही सदाचार है जो कि प्रकाश है। यह प्रकाश किसी भी अन्य व्यक्ति द्वारा नहीं लाया जा सकता, वह

चाहे जितना अनुभवी, चतुर, विद्वान और आध्यात्मिक क्यों न हो। वह प्रकाश, वह रोशनी आयेगी आपके अपने ही ध्यान से, समझ से, इस लोक में या परलोक में कोई अन्य इसे आपके लिए नहीं ला सकता।

अपने भीतर जो कुछ भी है उसके प्रति मर पाना! इसलिए कि प्रेम निश्छल, ताज़गी लिए, निर्मल और युवा होता है। तो यदि आपने अपने भीतर यह व्यवस्था, यह सदाचार, यह सौंदर्य, यह प्रकाश अधिष्ठित कर लिया है तभी आप आगे, परे जा सकते हैं। तात्पर्य यह है कि एक ऐसी व्यवस्था—जिसे विचार ने न गढ़ा हो—आ जाने के बाद यह मन सहज ही, बिना किसी अनुशासन के, बिना कोई ज़बरदस्ती किये पूर्णरूपेण मौन, शांत हो जाता है। और उस मौन के, उस भीतर की खामोशी के उजाले में सभी काम किये जा सकते हैं, रोज़मर्रा की ज़िंदगी जी जा सकती है। और यदि किसी को इतनी दूर तक आ पाने का सौभाग्य मिल जाये तो वह देख पाएगा कि उस खामोशी में एक अलग ही तरह की गतिशीलता होती है, जो समय के, शब्दों के आयाम से हटकर है और जिसे हम विचारों से नहीं माप सकते, क्योंकि यह नित नूतन हुआ करती है। यह वह अपरिमेय है जो व्यक्ति सदा से खोजता आया है। आप इस तक आ पहुंचते हैं; इसे आपको दिया नहीं जा सकता। यह न शब्द है, न प्रतीक है; वे तो विध्वंसक होते हैं। इसके आने के लिये आपमें संपूर्ण व्यवस्था, सौंदर्य, प्रेम का होना ज़रूरी है। इसलिए हर उस चीज़ के प्रति आपको मरना होगा जिसे आप मनोगत रूप से जानते हैं, ताकि आपका मन सुस्पष्ट हो, न कि एक सताया हुआ मन; ताकि वह चीज़ों को वैसा ही देख सके जैसी कि वे हैं—बाहरी तौर पर, और भीतरी तौर पर भी।

यूरोप की वार्ताएं 1968 से
एम्सटरडम, 19 मई 1968

दस

मृत्यु क्या है? प्रेम व मृत्यु के बीच क्या संबंध है? मेरे विचार से, इन दोनों के बीच का संबंध हमें तभी पता चल सकता है जब हम मृत्यु का अर्थ समझ लें। ज़ाहिर है कि इसे समझने के लिये हमें पहले यह समझना होगा कि जीना क्या है। वास्तव में, हमारा जीना क्या है—मेरा अभिप्राय रोज़ाना जीने से है न कि किसी आदर्शवादी अथवा बौद्धिक मान्यता से जिसके अनुसार हम मानने लगते हैं कि जीवन ऐसा होना चाहिये, जबकि वह वास्तविकता में कुछ और ही होता है। द्वंद्व, हताशा, अकेलेपन और अलगाव को ढोता हमारा यह जीवन वास्तव में है क्या? हमारा जीवन एक कुरुक्षेत्र है—जागते भी और सोते भी। हम इस जीवन से पलायन करने के लिये तरह-तरह के तरीके अपनाने का प्रयास करते रहते हैं : संगीत, कला, संग्रहालय, धार्मिक अथवा दार्शनिक मनोरजंन के ज़रिये, कैसे-कैसे सिद्धांतों को गढ़कर व ज्ञान के चक्रव्यूह में कूदकर, किसी भी तरह से बस पलायन खोजते हुए, पर हम और जो भी करें किंतु इस द्वंद्व का, ज़िंदगी कहलाने वाले इस जंग का और इसमें निरंतर रहने वाले दुख का बस अंत ही नहीं करते।

दैनिक जीवन में क्या दुख का अंत संभव है? जब तक हमारे मन में आमूल परिवर्तन न हो जाये तब तक हमारा जीना कोई सार्थकता नहीं रखता—प्रतिदिन कार्यालय जाना, जीविकोपार्जन करना, कुछ पुस्तकें पढ़ लेना, उन्हें चतुराईपूर्वक उद्धृत करने की क्षमता पा लेना, सुविज्ञ हो जाना—यह एक ऐसा जीवन है जो खोखला और वस्तुतः बुर्जुआ जीवन है। और यदि कोई इस स्थिति से अवगत हो जाता है तो वह जीवन का मूल्य गढ़ने लगता है, इसका कोई अर्थ ढूंढ़ने चल पड़ता है। वह कुछ चतुर लोगों को तलाश लेता है जो इस जीवन को कोई अर्थ दे सकें, इसे कोई प्रयोजन दे सकें—इस प्रकार यह जीवन से पलायन का एक और तरीका बन जाता है। इस प्रकार के जीने में एक मूलभूत रूपांतरण आना ज़रूरी है।

ऐसा क्यों है कि अधिकतर हम सभी मृत्यु से भयभीत रहते हैं? किस बात से भयभीत हैं हम? जिसे हम मृत्यु कहते हैं, उससे लगने वाले अपने सारे भय को देखिये, यह भय उस युद्ध का अंत हो जाने को लेकर है जिसे हम जीना कहते हैं। हम अज्ञात के भय से, क्या हो जाएगा इसके भय से त्रस्त हैं। हम ज्ञात वस्तुओं के छूट जाने के भय से त्रस्त हैं—परिवार, पुस्तकें, घर, और फर्नीचर तथा अपने निकटवर्ती लोगों के प्रति हमारी आसक्ति; हम ज्ञात के छूट जाने के भय से त्रस्त रहते हैं, और वह ज्ञात है दुख, पीड़ा और हताशा से भरा हमारा यह जीवन जिसमें हर्ष भी कभी-कभी चमक उठता है। इस अनवरत जारी रहने वाले संघर्ष का कोई विराम नहीं है, इसी को हम जीना कहते हैं और इसी के छूट जाने के भय से हम त्रस्त हैं। क्या यह 'मैं' है, जो इस तमाम संचय का परिणाम है और इस भय से त्रस्त है कि कहीं उसी का अंत न हो जाये, जो इसीलिये कोई

न कोई प्रत्याशा पालता रहता है, और जो इसीलिये पुनर्जन्म को आवश्यक मानता है? पुनर्जन्म की जिस अवधारणा में पूरा पूरब विश्वास करता है वह यह है कि आप अगले जीवन में सोपान के किसी ऊंचे पायदान पर जन्म लेंगे, इस जन्म में आप बर्तन धोने वाले हैं तो अगले जन्म में राजकुमार या ऐसे ही कुछ होंगे और कोई दूसरा आपके बर्तन धोयेगा। जो लोग पुनर्जन्म में विश्वास रखते हैं उनके लिये तो यह महत्त्वपूर्ण होना चाहिए कि वे इस जन्म में क्या हैं क्योंकि उनका अगला जन्म इसी बात पर निर्भर करने वाला है कि वे इस जन्म में क्या कर रहे हैं, कैसा व्यवहार कर रहे हैं, उनके विचार क्या हैं, उनके कार्यकलाप क्या हैं, तदनुसार ही तो उन्हें दंडित अथवा पुरस्कृत किया जाना है। परंतु वे इस बात की रत्ती पर भी परवाह नहीं करते कि वे कैसा व्यवहार कर रहे हैं, उनके लिये तो यह बस एक विश्वास है, अन्य विश्वासों की तरह ही, जैसे यह विश्वास कि स्वर्ग होता है, ईश्वर है, आदि-आदि। वास्तव में जिस बात का महत्त्व है वह यह है कि आप अब और आज क्या हैं, आप अब और आज कैसा व्यवहार करते हैं—न केवल बाहरी तौर पर बल्कि भीतरी तौर से भी। मृत्यु के संबंध में, पश्चिम में सांत्वना पाने का अपना ढंग है, वह इसकी तर्कपूर्ण व्याख्या कर लेता है। पश्चिम की अपनी धार्मिक संस्कारबद्धता है।

मृत्यु, यह अंत वास्तव में क्या है? अवयवों के इस पुंज का अंत तो होना ही है, क्योंकि इसकी उम्र ढलती है, या इसे कोई रोग हो जाता है, या यह दुर्घटनाग्रस्त हो जाता है। हममें से बहुत कम लोग ससौंदर्य वृद्ध हो पाते हैं, क्योंकि हम उत्पीड़ित व्यक्तित्व वाले जो हैं, आयु के साथ-साथ यह हमारे चेहरे से प्रकट होने लगता है, और वृद्धावस्था की अपनी उदासी है—अतीत की बातों को याद करते रहना।

क्या हम मनोवैज्ञानिक रूप से प्रत्येक ज्ञात बात के प्रति मर सकते हैं, वह भी प्रत्येक दिन? जब तक ज्ञात से मुक्ति नहीं हो जाती तब तक हमें उसका स्पर्श नहीं हो पाता, जो संभव है। जैसा कि होता है, हमारी संभावना सदैव ज्ञात की परिधि में रहती है, परंतु जब मुक्ति होती है तब यही संभावना असीम हो जाती है। अपने संपूर्ण अतीत, अपनी तमाम आसक्तियों, व्यग्रताओं, अपने सारे भय, दंभ और दर्प के प्रति मनोवैज्ञानिक रूप से क्या कोई इतने निःशेष रूप से मर सकता है कि अगले कल की सुबह जब वह जागे तो वह एक बिल्कुल नया, ताज़ा और कोरा व्यक्ति हो? आप पूछेंगे, "यह कैसे किया जा सकता है?" इसका कोई तरीका नहीं है क्योंकि तरीके में आगामी कल निहित होता है, इसमें यह निहित होता है कि आप उस तरीके का अभ्यास करके बाद में, अगले दिन अथवा आगामी अनेक दिनों बाद कुछ हासिल कर सकते हैं। परंतु आप बौद्धिक रूप से नहीं बल्कि वास्तविक रूप से क्या इस बात का सच तुरंत देख सकते हैं कि यह मन तब तक ताजा, कोरा, निष्कपट, नवजात, जीवंत और उत्कट नहीं हो सकता जब तक इसमें अतीत की प्रत्येक बात का मनोवैज्ञानिक रूप से अवसान न हो जाये। परंतु हम तो अतीत को जाने देना ही नहीं चाहते, क्योंकि हम वह अतीत ही हैं। हमारे सारे विचार अतीत पर आधारित रहते हैं, हमारा सारा ज्ञान अतीत का ज्ञान है, इसलिये मन इसे छोड़ नहीं पाता। इसे छोड़ने की जो भी कोशिश वह करता है, वह अतीत का ही अंश होती है—एक भिन्न

अवस्था की अपेक्षा करने वाला अतीत।

मन का एकदम शांत, मौन होना आवश्यक है। जब यह इस सारे प्रसंग को देख-समझ लेता है तब यह बिना किसी अवरोध के, बिना किसी विधि-प्रणाली के, एकदम शांत, मौन हो ही जाता है। मानव सदैव अमरत्व चाहता रहा है। वह एक चित्र बनाता है और उस पर अपना नाम जड़ देता है। यह अमरत्व की इच्छा का एक रूप ही है—अपने पीछे अपनी कुछ छाप-छवि छोड़ जाने का वह इच्छुक रहता है। अब, तकनीकी ज्ञान के अतिरिक्त उसके पास देने के लिये है क्या? वह स्वयं क्या है? आप और मैं मनोवैज्ञानिक रूप से क्या हैं, आपके पास एक मोटा बैंक बैलेंस हो सकता है, आप मुझसे अधिक चतुर-चालाक हो सकते हैं, परंतु मनोवैज्ञानिक रूप से हम क्या हैं?—शब्दों का, स्मृतियों का, अनुभवों का भण्डार, और यही कुछ हम अपने पुत्र को सौंप देना चाहते हैं, पुस्तक रूप में छाप देना चाहते हैं, चित्र में उतार देना चाहते हैं—'मैं'। इस 'मैं' का महत्त्व सर्वोच्च रहता है, यह 'मैं' किसी समुदाय के विरुद्ध खड़ा हो जाता है, यह 'मैं' अपनी एक पहचान बना लेता है, स्वयं को भर लेना चाहता है, महान बनना चाहता है—आप जानते हैं कि यही कुछ तो हो रहा है। यदि आप इस 'मैं' को देखें तो आप पायेंगे कि यह तो स्मृतियों का एक पुलिंदा है, खोखले शब्दों का एक गठ्ठर है। और, यही है जो 'मेरे' और 'आप' के तथा 'हमारे' व 'उन' के बीच विभाजन का मूल कारण है।

यदि आप इस सब का अवलोकन करें, किसी अन्य के माध्यम से नहीं बल्कि स्वयं इस सब को समझें, बिना किसी निष्कर्ष, बिना किसी मूल्य-निर्धारण और बिना किसी निग्रह-निषेध के इस सब का अवलोकन करें, तो आप पायेंगे कि प्रेम तभी संभव है जब मरा जा सके। प्रेम स्मृति नहीं है। प्रेम सुख नहीं है। ऐसा कह दिया जाता है कि प्रेम का संबंध सेक्स से है—और फिर हम सांसारिक प्रेम और दिव्य प्रेम के बीच विभाजन पर लौट आते हैं, एक को निंदित और दूसरे को अनुमोदित करने लगते हैं। निश्चय ही, इनमें से कोई भी क्रियाकलाप प्रेम नहीं है। इससे मिलन नहीं हो सकता, जब तक अतीत के प्रति, संपूर्ण पीड़ा, द्वंद्व और दुख के प्रति व्यक्ति पूर्णरूपेण मरता नहीं। प्रेम का आगमन तभी होता है। और तब व्यक्ति जो चाहे कर सकता है।

'गरुड़ की उड़ान' से विखंडन : लंदन,
20 मार्च 1969

ग्यारह

मृत्यु क्या है, इस समूचे प्रश्न पर विवेचना करने से आपको एतराज़ तो नहीं? यहां बहुत सारे युवा लोग हैं, वे संभवतः अभी बहुत जियेंगे, और मुझ सहित बहुत से वयोवृद्ध भी मौजूद हैं। हम लोग प्रस्थान करने वालों में से हैं और आप लोग प्रवेश करने वालों में से। परंतु जो आता है उसे जाना तो होता ही है, अतः आपको भी मृत्यु का सामना तो करना ही पड़ेगा। इसलिये हम इसे जानने-समझने जा रहे हैं, अर्थात इसमें अंतर्दृष्टि प्राप्त करने जा रहे हैं। यदि आपमें किसी भी प्रकार का भय विद्यमान है तो आप इसमें अंतर्दृष्टि नहीं पा सकते और भय तभी होता है जब आपमें उन तमाम चीज़ों के प्रति आसक्ति रहती है जो आप को ज्ञात हैं। ये ज्ञात चीज़ें हैं आपकी छवियां, आपका ज्ञान, आपके मोह, आपका फर्नीचर, आपकी अवधारणाएं, निर्णय, संस्कृति, आपकी संकोचशीलता, नम्रता —आप समझे न?—यह सारा ज्ञात का ही क्षेत्र है। यदि आप भयग्रस्त हैं तो आप मृत्यु की इस समूची समस्या में कभी अंतर्दृष्टि नहीं पा सकेंगे।

मैं जानना चाहता हूँ और आप भी अवश्य जानना चाहेंगे कि मृत्यु क्या है। क्यों मैं इससे भयभीत हूँ? मैं वृद्धावस्था और अचानक समाप्त हो जाने के प्रति इतना डरा हुआ क्यों हूं? पूरी तरह यह समझना कि मृत्यु क्या है, सचमुच अत्यंत जटिल है। इसकी यह जटिलता ही हमें डराये रखती है क्योंकि यह बिल्कुल एक ऐसी मशीन की तरह है जिसके बारे में हम कुछ नहीं जानते और इसीलिये उसे छेड़ने से डरते हैं। परंतु यदि आप इसके पास सहज-सरल भाव से जायें अर्थात चूंकि आप वस्तुतः इसे जानना-समझना चाह रहे हैं तो इसके पास जाना आपको प्रियकर लगेगा—मृत्यु की अवधारणा में न उलझकर इसकी खोजबीन में, इसे देखने के नज़रिये में, इसे जानने-समझने में आनंद लें। तभी आप सीख रहे होते हैं, क्योंकि यदि आप खुश नहीं हैं तो आप सीख नहीं सकते, इसलिये यह आवश्यक है कि आप में भय विद्यमान न हो। यह आधारभूत बात है।

अतः आप यदि सचमुच इसमें पैठना चाहते हैं तो यह बात आपको एकदम स्पष्ट हो जानी चाहिये कि आपका मन अर्थात आपका विचार भय को निर्मित न करे—भय किसी ऐसी चीज़ का जो इसके अनुसार अंत की ओर जा रही है, और भय किसी ऐसी बात का जो, इसके मुताबिक, वहां प्रवेश कर रही है जहां जिससे यह अनभिज्ञ है।

सर्वप्रथम मुझे यह जानना होगा—देखिए, क्योंकि मुझे डर नहीं लग रहा, न ही डर में मेरी कोई दिलचस्पी है—तो मुझे यह जानना होगा कि क्या मुझमें 'मैं' के रूप में कोई चीज़ स्थायी तौर पर तो नहीं है। 'स्थायी' वह है जिसकी निरंतरता रहती है। मैं अपना फर्नीचर अपने भाई, पुत्र या किसी ऐसे ही किसी व्यक्ति के पास छोड़ सकता हूं, ताकि वह फर्नीचर परिवार में ही रहे, अथवा उसे किसी पुरावस्तु की दुकान को भी बेच सकता हूँ ताकि उसे कोई और खरीद ले। तो मैं जानना चाहता हूँ कि क्या 'मैं' के रूप में कोई भी

ठोस, निरंतर और स्थायी चीज़ मुझमें है जो मृत्यु से भयभीत हो। क्या मुझमें, आपमें कोई चीज़ स्थायी है?—स्थायी अर्थात समय में निरंतरता के रूप में और अंतराल में जगह घेरे हुए 'मैं'? 'मैं' एक नाम है, है न?

क्या इस नाम में कुछ स्थायित्व है? अथवा, कहीं विचार ही तो नहीं जो इस नाम को स्थयित्व दे देता है? इसका स्वयं का कोई स्थायित्व नहीं है, परंतु शरीर के साथ, छवि के साथ, ज्ञान के साथ, तमाम अनुभवों, दुखों, सुखों और व्यग्रताओं के साथ स्वयं का तादात्म्य करके विचार ने इसे स्थायित्व का भाव दे दिया है। अन्यथा शरीर के अस्तित्व विहीन हो जाने के बावजूद क्या कोई चीज़ निरंतर रहती है, स्थायी रहती है? इस सब में क्या आप रुचि रखते हैं? आप चाहें या न चाहें परंतु आपको इसके रू-ब-रू तो होना ही है : दुर्घटना से, रोग से अथवा शरीर-संरचना के नैसर्गिक क्षरण से आपका इससे सामना होना ही है। यह अपरिहार्य है। दीर्घजीवी होकर, अधिक स्वस्थ रहकर, पर्याप्त औषधि लेकर अथवा ऐसा ही कुछ करके आप इसे थोड़ा टाल सकते हैं परंतु अंत में यह तथ्य आकर खड़ा हो ही जाता है, जब तक कि मैं स्वयं ही यह खोज नहीं लेता कि मृत्यु के पार भी क्या कुछ स्थायी है, ऐसा कुछ जो समय के पाश में न रहता हो, जिसे सभ्यता, संस्कृति द्वारा भ्रष्ट न किया जा सकता हो, कोई ऐसी चीज़ जिसका सारे ज्ञान, अनुभवों, उद्दीपनों व प्रतिक्रियाओं के बावजूद अपना अस्तित्व 'मैं' के रूप मे बना रहता हो। तो मनुष्य ने कहा है, "यह 'मैं' नहीं है, किंतु ईश्वर है।" एशिया में लोग इसी बात को एक अलग तरह से कहते हैं, परंतु यह विचार की ही प्रक्रिया होती है जो कहती है "आत्मा होती है" और जैसा कि भारत में कहते हैं "ब्रह्म है", वह भी विचार की ही प्रक्रिया है।

तो यह सब विचार की प्रक्रिया है—उस विचार की प्रक्रिया जो अज्ञात से भयभीत है। विचार है ज्ञात, विचार है समय, विचार है पुरातन, विचार कभी स्वतंत्र नहीं होता। चूंकि विचार स्मृति, अनुभव और ज्ञान का प्रत्युत्तर होता है, अतः यह सदैव पुराना होता है, कभी स्वतंत्र नहीं होता और समय से संबद्ध रहने के कारण यह समयातीत के प्रति, जो समय से परे है उसके प्रति अनिश्चित रहता है। अतः यह कहता है, "मैं महत्त्वपूर्ण नहीं हूँ। यह 'मैं' तो नश्वर है, यह तो संस्कृति, समय, संयोग, परिवार और परंपरा द्वारा संकलित एक स्वरूप है, इसने अपनी कुछ वैयक्तिक विशिष्टताएं और कुछ प्रवृत्तियां विकसित कर ली हैं, इसकी अपनी संस्कारबद्धता है, परंतु इस सब के पार है आत्मा—मुझमें एक ऐसी निस्सीमता है, जो स्थायी है। यह सब विचार की ही प्रक्रिया है। फिर, इस अपरिहार्य से अर्थात मृत्यु से, अंत से आमना-सामना होने पर विचार कह उठता है, "मैं इसे सहन नहीं कर सकता" इसलिये वह बताता है, "एक भावी जीवन अवश्य है" या "मेरा विश्वास है कि भावी जीवन होता है" या "स्वर्ग होता है और वहां मैं ईश्वर के बराबर में बैठूंगा"—पूर्णतया अज्ञात से आमना-सामना होने पर यह कुछ तसल्ली, कुछ राहत चाहता है। और हज़ारों लोग हैं जो आपको यह तसल्ली व राहत देने बैठे हैं। सारे संगठित पूजाघर यह देने को तत्पर हैं। आप यही चाहते हैं, और इसी से उनका अस्तित्व बना हुआ है।

तो देखिये कि यह सब किस प्रकार विचार का ही कृत्य है और इसलिये यह भय

पर, कल्पना पर और अतीत पर आधारित है क्योंकि ज्ञात का क्षेत्र तो यही है। अर्थात् इसकी तमाम विविधताओं, परिवर्तनों और गतिविधियों सहित ज्ञात के क्षेत्र से मेरी आसक्ति है, क्योंकि मुझे विश्रांति चाहिए, राहत चाहिए। क्योंकि मैंने अतीत में राहत व तसल्ली पाई है, मैं ज्ञात की ही परिधि में जिया हूँ और यही मेरा इलाका रहा है अतः मैं इसकी सीमाओं को, हदों को जानता हूँ। इसकी सीमा है मेरी चेतना, जो अपनी अंतर्वस्तु ही है। मैं इस सबसे भली-भांति परिचित हूँ। परंतु मृत्यु एक ऐसी चीज़ है जिसे मैं नहीं जानता और जिसे मैं नहीं चाहता। तो मैं स्वयं से पूछता हूँ : मेरा जीवन अतीत ही रहा है, मैं अतीत में जिया हूँ, अतीत के अंतर्गत ही मैं कृत्य करता रहा हूँ। इसे सुनें। अतीत में जिया गया मेरा यह जीवन एक मृत जीवन है। आप समझे? अतीत में जीने वाला मेरा मन एक मृत मन है। विचार कहता है, “वह मृत्यु नहीं है, भविष्य मृत्यु है।” और मैं इसे तथ्य की तरह देखता हूँ, मैं इसे किसी विराट वास्तविकता की तरह देखता हूँ। अतः इस बात को समझ लेने पर, मन वस्तुतः अतीत के प्रति मर जाता है, वह अतीत का प्रयोग तो करता रहता है, परंतु उसके चंगुल से मुक्त रहता है, अतीत अपना मूल्य, अपनी पकड़ और ताकत खो देता है। अतः अब मन में इसकी अपनी ऊर्जा होती है जो अतीत से प्राप्त की हुई नहीं होती। इस प्रकार जीना ही मरना होता है। आप समझ रहे हैं? अतएव जीना प्रेम होता है जो कि मरना है। क्योंकि जब आसक्ति नहीं है तब प्रेम होता है। यदि अतीत से आसक्ति न हो—अतीत का अपना महत्त्व है—उसका प्रयोग किया जा सकता है, उसका जानकारी के रूप में प्रयोग किया भी जाना चाहिये। तो मेरा जीवन एक अनवरत नवीकरण है, अज्ञात के उस क्षेत्र में एक अनवरत गतिशीलता है जहां सीखना हो रहा है, गति विद्यमान है। इसलिए मृत्यु परम एकांतता होती है। और इसीलिए जीवन पूरी तरह से भिन्न प्रकार का जीवन होता है।

सानेन,
27 जुलाई 1972

मैं एक महत्त्वपूर्ण विषय पर बात करना चाहूँगा, मृत्यु के विषय में—मृत्यु न सिर्फ किसी व्यक्ति की, बल्कि मृत्यु एक अवधारणा के रूप में जो कि पूरे विश्व में व्याप्त है और जिसे शताब्दियों से एक समस्या के रूप में ढोया जाता रहा है, और वह भी कोई समाधान पाये बिना। केवल किसी व्यक्ति विशेष की मृत्यु का भय ही यहां नहीं है बल्कि मृत्यु के बारे में एक विशाल, सामूहिक दृष्टिकोण भी है—पूरब में भी और पश्चिम में भी—जिसे समझा जाना ज़रूरी है। तो हम मिलकर इस पूरे प्रसंग पर चर्चा करने जा रहे हैं।

इतनी विपुल और महत्त्वपूर्ण समस्या पर विचार करते समय शब्दों के प्रयोग का प्रयोजन केवल अपनी बात एक दूसरे तक पहुंचाने और पारस्परिक सहसंवाद के लिये ही है। परंतु ये शब्द तब स्वयं एक अवरोध बन सकते हैं जब मृत्यु जैसे प्रकांड प्रश्न को समझने का प्रयत्न करते समय इस पर अपना पूरा अवधान देने के बजाय हम शाब्दिक व ऊपरी तौर पर या बौद्धिक स्तर पर ही उसके अस्तित्व का कारण ढूंढ़ने का प्रयास करते रहेंगे।

मृत्यु नामक इस अद्‌भुत घटना को समझने से पहले या समझने की प्रक्रिया के दौरान ही हमें समय का महत्त्व भी समझ लेना चाहिये जो हमारे जीवन का एक बहुत बड़ा कारक है। विचार समय को रचता है और समय हमारे विचारों को नियंत्रित करता है, उन्हें आकार देता है। मैं इस 'समय' शब्द का प्रयोग घड़ी वाले समय के अर्थ में ही नहीं कर रहा हूँ बल्कि मनोवैज्ञानिक समय के अर्थ में भी कर रहा हूँ—वह समय जिसे विचार गढ़ता है—कहीं पहुंचने, कुछ हासिल करने, या स्थगित कर टाल देने के लिये। ये दोनों समय हमारे जीवन के कारक हैं, ठीक? हमें घड़ी वाले समय की जानकारी रहनी चाहिये अन्यथा आप और मैं कहीं मिल नहीं पायेंगे। निश्चय ही, घड़ी वाला समय हमारे जीवन की घटनाओं के लिये आवश्यक है। यह तो सरल व साफ बात है अतः हमें इस बात की गहराई में जाने की आवश्यकता नहीं है। अब जिस समय का अन्वेषण करने, जिसके बारे में विचार विमर्श करने और जिसे समझने की आवश्यकता है वह है यह सारी मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया—जिसे हम समय कहते हैं।

देखिये, हम यदि शब्दों को केवल सुनेंगे और उनके निहितार्थ को नही समझेंगे तो मुझे नहीं लगता कि हम इसमें बहुत दूर तक जा पायेंगे। अधिकतर हम लोग शब्दों और उनसे जुड़ी किसी अवधारणा या सूत्र के वशीभूत हो जाते हैं। मेरी इस बात को यूं ही दरकिनार न करें क्योंकि हम में से प्रत्येक व्यक्ति के पास कोई सूत्र, कोई संकल्पना, कोई अवधारणा, कोई आदर्श होता ही है जिसके अनुसार वह जीता है—चाहे वह सूत्र, वह संकल्पना, वह अवधारणा, वह आदर्श कितना भी औचित्यपूर्ण, अनौचित्यपूर्ण या सनक भरा क्यों न हो। मन किसी प्रतिमान के अनुसार, किसी अवधारणा या सूत्र के रूप में ढाल

दिये गये शब्दों की शृंखला के अनुसार स्वयं को निर्देशित करता रहता है। यह बात हम सब पर लागू होती है अतः इस बारे में कृपया किसी गलत-फहमी में मत रहिये—कोई न कोई अवधारणा, कोई न कोई ढर्रा तो होता ही है जिसके अनुसार हम अपने जीवन को रूप व आकार देते हैं। परंतु यदि हमें जीवन और मरण के इस प्रश्न को समझना है तो हमें उन सारे सूत्रों, ढर्रों और अवधारणाओं का पूर्णतया विसर्जन कर देना होगा जिनका अस्तित्व ही इस कारण बना रहा है कि हम जीवन जीना समझ ही नहीं पाये हैं। जो व्यक्ति हर प्रकार से और संपूर्णतया भय से मुक्त है उसके पास जीने के लिये कोई अवधारणा नहीं होती। उसकी क्रिया ही विचार और विचार ही क्रिया बन जाते हैं—ये दो पृथक चीज़ें नहीं रह जातीं। अब चूंकि हम मृत्यु नामक चीज़ से भयभीत रहते हैं अतः हमने इसे जीवन से निकालकर अलग खड़ा कर दिया है। हमने जीवन और मृत्यु को दो बिल्कुल पृथक और असंबद्ध खंडों मे बंद कर दिया है जिनके बीच बहुत दूरी है, और हम शब्द के अनुसार, अतीत के सूत्र के अनुसार और विगत की परंपराओं के अनुसार जीते रहते हैं। और इस प्रक्रिया में जकड़ा मन कभी यह देख-समझ नहीं पाता कि जीवन और मृत्यु का समूचा निहितार्थ क्या है, सत्य क्या है।

यदि मेरे साथ इस पूरे प्रसंग पर एक ईसाई, एक बौद्ध एक हिंदू या जो कुछ आप हैं उसके दृष्टिकोण से गवेषणा करेंगे तो आप विषय से पूरी तरह भटक जायेंगे। और यदि इस गवेषणा में आप अपने विविध अनुभवों को, लोगों व ग्रंथों से प्राप्त ज्ञान को अपने साथ ले आयेंगे तो भी आपको न केवल हताशा ही हाथ लगेगी बल्कि आप परेशानी में, उलझाव में फंस जायेंगे। जो वास्तव में खोज-बीन करना चाहता है सर्वप्रथम उसे उन सब बातों से मुक्त होना होगा जो उसकी पृष्ठभूमि निर्मित करती हैं—और यही हमारी सबसे बड़ी समस्या है। हमें अतीत से मुक्त होना ही चाहिये क्योंकि इस मुक्ति, इस स्वतंत्रता के बिना हम कुछ भी नया अन्वेषित नहीं कर सकते, परंतु यह मुक्ति ही हो, प्रतिक्रिया नहीं। समझ ही मुक्ति है, परंतु हममें से बहुत कम लोग मुक्त होना चाहते हैं। हम अपने ही बनाये गये अथवा समाज द्वारा जोड़-जाड़ कर बनाये गये एक सुरक्षित पिंजरे में रहना बेहतर मानते हैं। इस ढर्रों पर चलने के मार्ग में आनेवाली कोई भी विघ्न-बाधा हमें अशांत कर देती है, और अशांत होने के बजाय हम प्रमाद, मृत्यु और क्षरण में जीने को तरजीह देते हैं।

मृत्यु के इस व्यापक प्रश्न के अन्वेषण के लिये हमें न केवल अपने सूत्रों और अवधारणाओं के प्रति अपनी दासता के प्रति बल्कि अपने विविध भय, निरंतरता की इच्छा आदि के प्रति भी तटस्थ भाव से सजग होना होगा। गवेषणा हेतु समस्या के समक्ष हमें कोरा होकर पहुंचना होगा। देखिये, यह बात बहुत महत्त्वपूर्ण है। यदि हमें मृत्यु जैसी असाधारण घटना को जानना-समझना है तो हमारे मन को स्पष्ट होना चाहिये तथा इसे किसी प्रतिपादित सिद्धांत अथवा किसी अवधारणा के मकड़जाल में फंसा नहीं होना चाहिये। मृत्यु निश्चय ही एक असाधारण वाकया है—यह कोई ऐसी चीज़ नहीं है जिसे हम भुलावा देने का प्रयास करें व जिससे हम भयभीत रहें।

मनोवैज्ञानिक तौर पर हम समय की बेड़ियों में जकड़े हुए हैं—समय जो कि विगत कल की, अतीत की स्मृति है जिसके साथ इसके तमाम संचित अनुभव जुड़े हुए हैं। यह केवल आपकी अर्थात् किसी एक व्यक्ति विशेष की स्मृति नहीं है बल्कि पूरे जन-समूह की, प्रजाति की और युगों में से गुज़रते आये मानवमात्र की स्मृति है। अतीत तो मानव के व्यक्तिगत व समूहगत दुखों, कष्टों, खुशियों का तथा जीवन, मृत्यु, सत्य और समाज के साथ उसके असाधारण संघर्षों का लेखा-जोखा है। यह सब अतीत है, विगत कल को कई हज़ार से गुणा करके निकला गुणनफल है यह, और इस अतीत का भविष्य की ओर जारी प्रवाह ही हम अधिकांश लोगों के लिये 'आज' है। विगत कल, आज तथा आगत कल जैसा कोई विभाजन वस्तुतः विद्यमान नहीं है। घटित अतीत का वर्तमान द्वारा संशोधित स्वरूप ही भवितव्य होगा। हम बस यही जानते हैं। भविष्य आज की घटनाओं द्वारा संशोधित किया गया अतीत ही है। आने वाला कल तो बीता हुआ कल ही होता है, बस उसे आज के अनुभवों, प्रतिक्रियाओं और ज्ञान के द्वारा पुनः एक आकार दे दिया जाता है, इसी को हम समय कहते हैं।

समय एक ऐसी चीज़ है जिसे मस्तिष्क द्वारा गढ़ लिया गया है। और इसी के प्रतिफल में मस्तिष्क समय की उपज हो गया है—हजारों विगत कलों की उपज। प्रत्येक विचार समय का परिणाम होता है, स्मृति का प्रत्युत्तर होता है, विगत कल की इच्छाओं, कुंठाओं, विफलताओं, दुखों और मंडराते खतरों की प्रतिक्रिया। इस पृष्ठभूमि में रहते हुए हम जीवन को देखते हैं, तथा सभी बातों पर अनुचिंतन करते हैं, ईश्वर है या नहीं है, राज्य का कर्तव्य क्या है, संबंधों का स्वरूप क्या है, ईर्ष्या, व्यग्रता, अपराधबोध, हताशा और दुख पर कोई विजय कैसे पाये या इनके साथ सामंजस्य कैसे स्थापित करे—इन तमाम प्रश्नों को हम समय की इसी पृष्ठभूमि से देखते हैं।

इस पृष्ठभूमि के साथ हम जिस किसी भी चीज़ को देखते हैं वह विकृत और विद्रूप हो जाती है। किसी विकट स्थिति को जब हमारे पूरे अवधान की महती आवश्यकता होती है और हम उसे अतीत की दृष्टि से ही देखते रहते हैं, तब या तो हम मानसिक रूप से असंतुलित होकर क्रिया करते हैं—और हममें से अधिकांश ऐसा ही करते हैं या हम उसके विरोध में अवरोध खड़े कर देते हैं। हमारे जीवन का सारा प्रक्रम यही तो रहता है। देखिये, मैं इन चीजों का शाब्दिक रूप से खुलासा कर रहा हूँ, परंतु यदि आप केवल शब्दों पर ध्यान देते रहेंगे और स्वयं अपनी विचार-प्रक्रिया का अवलोकन नहीं करेंगे, अर्थात् स्वयं को वैसा ही नहीं देखते चलेंगे जैसे कि आप हैं, तो आप मृत्यु को संपूर्णतः नहीं समझ पायेंगे। और यदि आप भय से मुक्त होना चाहते हैं तथा एक बिल्कुल भिन्न अवस्था में प्रवेश करना चाहते हैं तो आपके लिये यह समझ आवश्यक है।

अतीत की विशिष्ट शब्दावली में हम वर्तमान के अर्थ निकालने में लगातार लगे रहते हैं और इस प्रकार अतीत को जीवित बनाये रखते हैं। हममें से अधिकांश लोगों के लिये अतीत की निरंतरता ही वर्तमान रूप में बनी रहती है। हम अपने जीवन की दिन-प्रतिदिन की घटनाओं को देखते हैं—ये घटनाएं सदैव नूतनता लिये हुए होती हैं, अपना एक अलग

अर्थ लिये हुए होती हैं—परंतु इन्हें हम अतीत के मृत मूल्यों से ही आंकते हैं और उसी से उस चीज़ को बुनते रहते हैं जिसे हम भविष्य कहते हैं। यदि आपने अपने मन का अवलोकन किया हो, चेतन मन का ही नहीं बल्कि अचेतन मन का भी, तो आप देख सकते हैं कि वह सारा का सारा अतीत है, उसमें ऐसा कुछ भी नहीं होता जिसे नूतन कहा जा सकता हो, कुछ भी ऐसा नहीं होता जो अतीत द्वारा, समय द्वारा प्रदूषित न कर दिया गया हो। और फिर वह है जिसे हम वर्तमान कहते हैं। क्या ऐसा कोई वर्तमान है जो अतीत से अछूता हो? क्या ऐसा कोई वर्तमान है जो भविष्य को संस्कारित न कर रहा हो?

शायद आपने इस विषय में पहले कभी न सोचा हो, इसलिये हम इस पर थोड़ा बहुत विमर्श कर लें। हममें से अधिकांश लोग वर्तमान में जीना चाहते हैं क्योंकि अतीत अत्यंत भारी और बोझिल होता है, उसका कोई ओर-छोर नहीं होता, और भविष्य होता है एकदम अनिश्चित। आधुनिक मन कहता है, "आज में जियो। इसकी चिंता मत करो कि कल क्या होगा, केवल आज में जियो। जीवन वैसे भी एक विपत्ति ही है, तो एक दिन की आफत काफी है—इसलिये हर दिन पूरी तरह से जियो, शेष सब कुछ भूल जाओ।" ज़ाहिर है कि यह हताशा की ही दार्शनिकता है।

क्या यह संभव है कि समय अर्थात अतीत को बीच में लाये बिना बस वर्तमान में जिया जाये? निश्चय ही आप वर्तमान को इसकी पूर्णता में जी सकते हैं, परंतु केवल तभी जब आप समग्र अतीत को समझ लें। समय के प्रति मर जाना वर्तमान में जीना है परंतु समय के प्रति आप तभी मर सकते हैं जब आप अतीत को समझ लें अर्थात स्वयं अपने मन को समझ लें—न सिर्फ उस चेतन मन को जो प्रतिदिन कार्यालय जाता है, जानकारी और अनुभव एकत्र करता रहता है, प्रतिक्रियाएं इत्यादि करता रहता है, बल्कि आपको उस अचेतन मन को भी समझना है जो परिवार, वर्ग व जाति की परंपराओं का संग्रह है। इस अचेतन में मानव का घोर दुख और मृत्यु का भय भी संग्रहीत है। यह सब है अतीत और यह आप ही हैं और इसी को आपने समझना है। यदि आप इसे नहीं समझ पाते हैं यदि आप अपने मन एवं हृदय के तौर-तरीकों की अपने लोभ और दुख की गवेषणा नहीं कर पाते हैं, यदि आप स्वयं को 'संपूर्णतः' नहीं समझ पाते हैं, तो आप वर्तमान में नहीं जी सकते। वर्तमान में जीना अतीत के प्रति मर जाना है। स्वयं को समझने की प्रक्रिया में आप अतीत से अर्थात् अपनी संस्कारबद्धता से मुक्त हो जाते हैं—एक कम्यूनिस्ट के रूप में, एक कैथोलिक, प्रोटेस्टेंट, एक हिंदू, एक बौद्ध के रूप में अपनी संस्कारबद्धता से, समाज द्वारा तथा अपने ही लोभ, ईर्ष्याओं, व्यग्रताओं, हताशाओं, दुखों और कुंठाओं द्वारा थोपी गई संस्कारबद्धता से आप मुक्त हो जाते हैं। यह आपकी संस्कारबद्धता ही है जो आपके 'मैं' को, अहं को निरंतरता प्रदान करती है। यदि आप स्वयं को नहीं जानते, अपनी अचेतन स्थिति और चेतन स्थिति को भी यदि आप नहीं जानते तो आपकी सारी पड़ताल गलत तरफ मुड़ जायेगी, पक्षपाती हो जायेगी। एक बुद्धिसंगत, सुस्पष्ट, तर्कपूर्ण व स्वस्थ विचारणा के लिये आपके पास आधार नहीं रह जायेगा। आपकी विचारणा किसी ढर्रे, किसी सूत्र या किन्ही अवधारणाओं के समूह के अनुसार होगी जो कि वास्तव

में विचारणा नहीं है। एक स्पष्ट व तर्कपूर्ण विचारणा के लिये, असंतुलन या किसी भी प्रकार के विभ्रम में न उलझी हुई विचारणा के लिये आपको अपनी ही चेतना के इस संपूर्ण प्रक्रम को समझना होगा जिसे समय द्वारा, अतीत द्वारा निर्मित किया जाता रहा है। तो क्या अतीत के बिना जीना संभव है? निश्चित ही यही मृत्यु है। आप समझे न? वर्तमान के प्रश्न पर हम पुनः लौटेंगे जब हम स्वयं यह देख-समझ लेंगे कि मृत्यु क्या है।

मृत्यु क्या है? यह प्रश्न युवाओं के लिये भी है और वृद्धजनों के लिये भी, अतः स्वयं से यह प्रश्न पूछिये। मृत्यु क्या इस शारीरिक अवयव-पुंज का अंत होना मात्र है? क्या यही बात है जिस कारण हम इससे भयभीत रहते हैं? क्या यह शरीर ही है जिसकी निरंतरता हम चाहते हैं? अथवा निरंतरता का वह कोई और स्वरूप है जिसकी लालसा हममें बनी रहती है? हम सभी भली-भांति जानते हैं कि यह देह, यह भौतिक शरीर काम में आते-आते, तरह-तरह के दबावों, द्वंद्वों, आवेगों, चाहतों और दुखों के चलते छीजता जाता है। कइयों को यह अच्छा लगेगा यदि यह शरीर एक सौ पचास वर्ष या इससे अधिक ही चले और वैज्ञानिक व चिकित्सक कभी न कभी शायद कोई ऐसी विधि या विद्या ढूंढ़ लें जिससे हमारा यह जीवन-मरण का संघर्ष और भी लंबा चलने वाला हो जाये। परंतु देर-सबेर यह शरीर मरना ही है, शारीरिक अवयवों के इस पुंज का अंत होना ही है। अन्य मशीनों की तरह यह भी घिस-पिट जाता है।

हममें से अधिकांश लोगों के लिये मृत्यु इस शरीर के अंत हो जाने की अपेक्षा कहीं अधिक गहन-गंभीर घटना है, इसीलिये सभी धर्म मृत्यु के पश्चात भी किसी न किसी प्रकार के जीवन का आश्वासन देते हैं। हम निरंतरता के प्रति लालायित रहते हैं, हम आश्वस्त हो जाना चाहते हैं कि देहावसान के उपरांत भी कुछ है जो निरंतर बना रहता है, हमें आशा रहती है कि यह चित्त, यह 'मैं'—जिसने अनुभव किये हैं, संघर्ष किये हैं, संचय किये हैं, जिसने सीखा है, कष्ट उठाया है, आनंद लिया है—यह 'मैं' जिसे पश्चिम में 'सोल' व पूरब में कुछ और कहा जाता है—यह 'मैं' निरंतर बना रहेगा। तो जिस चीज़ के लिये हम चिंतित हैं वह है निरंतरता न कि मृत्यु। हम यह नहीं जानना चाहते कि मृत्यु क्या है, हम इसके अप्रतिम अचरज को, इसकी सुंदरता, गहनता और विशालता को जानना नहीं चाहते। हम तो बस निरंतरता चाहते हैं। हम कहते हैं, 'मैं'—जो चालीस, साठ या अस्सी वर्ष का हो गया हूँ, मैं जिसके पास मकान है, परिवार है, बच्चे हैं, नाती-पोते हैं, मैं जो इतने वर्षों से कार्यालय जाता रहा हूँ, मैं जो लड़ता-झगड़ता रहा हूँ, जिसमें यौन-क्षुधाएं भरी हैं, वह 'मैं' इसी प्रकार जीता रहना चाहता हूँ। यही कुछ है जिसके प्रति हम चिंतित रहते हैं। हम जानते हैं कि मृत्यु होती है, हम जानते हैं कि इस शरीर का अंत होना अपरिहार्य है और इसीलिये चाह करते हैं कि मृत्यु के उपरांत भी अपनी निरंतरता की सुनिश्चितता का आश्वासन हमें मिल जाए। तभी तो हमने विश्वास, धर्म-सिद्धांत, मृतोत्थान, और पुनर्जन्म पाल लिये हैं—मृत्यु की वास्तविकता से पलायन करने के लिये हजार तरकीबें ईजाद कर ली हैं। फिर जब युद्ध होता है तब उन बेचारों के नाम क्रॉस खड़ा कर देते हैं जो मार दिये गये हैं। सहस्राब्दियों से यही कुछ होता आ रहा है।

सचमुच हमने अपना सर्वस्व यह जानने के लिये नहीं लगाया है कि मृत्यु है क्या? मृत्यु को हम सदैव इसी दृष्टिकोण से देखते रहे हैं कि उसके बाद भी किसी निरंतरता का पक्का आश्वासन मिल जाए। हम कहते हैं, "मैं ज्ञात की निरंतरता चाहता हूँ," और इसमें सम्मिलित है हमारी विलक्षणताएं, हमारी क्षमता, अनेक अनुभवों की हमारी स्मृति, हमारे संघर्ष, हमारी उपलब्धियां, हमारी कुंठाएं, हमारी आकांक्षाएं और साथ ही हमारा नाम व हमारी संपत्ति। यही सब तो है वह ज्ञात, और हम इस सब की निरंतरता चाहते हैं। हमें एक बार इस निरंतरता की निश्चितता के बारे में आश्वस्त कर दिया जाये तो शायद हम यह छान-बीन करना चाहें कि मृत्यु क्या है और क्या अज्ञात जैसा भी कुछ होता है—जिसका अन्वेषण कर पाना अवश्य ही अद्भुत होगा।

तो आप इस विषमता को देखिये। जिसे हम चाहते हैं वह है निरंतरता, परंतु हमने स्वयं से कभी यह नहीं पूछा कि वह क्या है जो निरंतरता को आकार देता है, इस सिलसिले को, निरंतरता की प्रवृत्ति को जन्म देता है। यदि आप ध्यानपूर्वक देखेंगे तो पायेंगे कि यह विचार ही है जो निरंतरता के एहसास को जन्म देता है—और कुछ नहीं। विचार के माध्यम से ही आप अपने परिवार, अपने मकान, अपने चित्रों अथवा कविताओं के साथ, अपने व्यक्तित्व, अपनी कुंठाओं और अपनी खुशियों के साथ तादात्म्य स्थापित किया करते हैं। आप किसी समस्या के बारे में जितना अधिक सोचते हैं, उतना ही आप उस समस्या की जड़ें गहरी करते जाते हैं, उसे निरंतरता प्रदान करते जाते हैं। आप यदि किसी को पसंद करते हैं तो उसके बारे में सोचते रहते हैं, और यह सोचना ही समय में निरंतरता का एहसास देता है। ज़ाहिर है, आपको सोचना तो होता है, परंतु क्या यह हो सकता है कि उस पल के लिए, उस पल आप सोचें—और तब सोच का पटाक्षेप कर दें? यदि आप यह न कहें, "मैं इसे पसंद करता हूँ, यह मेरा है—यह मेरा चित्र है, मेरी अपनी अभिव्यक्ति है, मेरा ईश्वर, मेरी पत्नी, मेरी नेकी—और इसे मैं अपने पास रखे रहूँगा," तो आपको समय में निरंतरता का कोई एहसास नहीं होगा। परंतु आप किसी भी समस्या के बारे में पूरे तौर पर स्पष्टता से विचार नहीं करते हैं। हमेशा कोई सुख होता है जिसे आप बनाये रखना चाहते हैं या कोई पीड़ा होती है जिससे आप पिंड छुड़ाना चाहते हैं, अर्थात आप दोनों के बारे में सोचते रहते हैं और विचार दोनों को निरंतरता प्रदान करता रहता है। जिसे हम विचार कहते हैं वह स्मृति का, सहचारी यादों का प्रत्युत्तर होता है जो तत्त्वतः वैसा ही है जैसे कंप्यूटर का प्रत्युत्तर। आपका उस बिंदु तक आना ज़रूरी है जहां इसका सत्य आप स्वयं देख सकें।

हममें से अधिकांश लोग वास्तव में यह जानना ही नहीं चाहते कि मृत्यु क्या है, बल्कि हम तो ज्ञात में ही निरंतर बने रहना चाहते हैं। यदि मेरे भाई, मेरे पुत्र, मेरी पत्नी या पति की मृत्यु हो जाये तो मैं शोकसंतप्त हो जाता हूँ, अकेला हो जाता हूँ, स्वयं पर तरस खाने लगता हूँ—इसी को मैं दुख कहता हूँ और इसी अस्त-व्यस्त, भ्रमित और व्यथित अवस्था में जीता रहता हूँ। मैं मृत्यु को जीवन से पृथक कर लेता हूँ—कलह, कटुता, हताशा, निराशा, कुंठा, अपमान, अनादर भरे इस जीवन से, क्योंकि मैं इसी जीवन को

जानता हूँ, और मृत्यु को मैं जानता नहीं। विश्वास और धर्म-सिद्धांत मुझे मृत्यु-पर्यंत संतुष्ट करते रहते हैं। हममें से अधिकांश के जीवन में यही तो हो रहा है।

जैसा कि आप देख सकते हैं कि विचार द्वारा चेतना को दिया गया निरंतरता का यह एहसास बहुत छिछला होता है। इसमें कुछ भी रहस्यमय अथवा श्रद्धास्पद नहीं है, और जब आप इसके संपूर्ण अभिप्राय को समझ लेते हैं तब आप स्पष्ट रूप से, तर्कसंगत ढंग से, विवेकपूर्ण, भावुकतारहित हो कर और कुछ पाने, कुछ होने या कुछ बनने की सतत आकांक्षा के बिना सोच पाते हैं—जब सोचना आवश्यक हो। तब आप यह भी जान जायेंगे कि वर्तमान में कैसे जिया जाये—वर्तमान में जीना अर्थात पल-प्रतिपल मरना। तब आप खोजबीन करने योग्य हो जाते हैं क्योंकि तब आपका मन भयरहित हो जाने के कारण पूर्णतया भ्रमरहित भी हो जाता है। पूर्णतया भ्रमरहित रहना नितांत आवश्यक है, और भ्रम तभी तक रहता है जब तक भय रहता है। जब कोई भय नहीं रहता तो कोई भ्रम भी नहीं रहता। भ्रम तब उपजता है जब भय सुरक्षा में अपनी जड़ें जमा लेता है, चाहे वह सुरक्षा किसी संबंध विशेष, किसी मकान, किसी विश्वास या किसी पद-प्रतिष्ठा के रूप में हो। भय ही भ्रम का रचयिता है। जब तक भय बना रहता है तब तक मन भ्रम के नाना रूपों के मकड़जाल में उलझा रहता है और ऐसा मन शायद ही कभी यह समझ सके कि मृत्यु क्या है।

अब हम यह गवेषणा करने जा रहे हैं कि मृत्यु क्या है—कम से कम मैं तो इसकी छान-बीन करूंगा और इसका अनावरण भी। परंतु आप मृत्यु को केवल तभी समझ सकते हैं, इसके साथ पूर्णतया तभी जी सकते हैं, इसका गहन और संपूर्ण अभिप्राय तभी समझ सकते हैं जब आपमें कोई भय न हो और फलस्वरूप कोई भ्रम-भ्रांति न हो। भयरहित होकर जीने का अर्थ है पूर्णतया वर्तमान में जीना अर्थात जब आप स्मृति की आदत में फंसे यंत्रवत् कार्यरत न हों। हममें से अधिकांश लोग पुनर्जन्म को लेकर चिंतित रहते हैं अथवा यह जानना चाहते हैं कि इस देह के अवसान के उपरांत भी क्या हम निरंतर बने रहेंगे—इस सब का कोई महत्त्व नहीं है। क्या हम निरंतरता के इरादों-मुरादों की तुच्छता को समझ पाये हैं? क्या हम देख पा रहे हैं कि यह तो विचारणा की, विचार की इस मशीन की प्रक्रिया मात्र है जो इस निरंतरता की मांग करती है। एक बार आप इस तथ्य को देख लें, तो आपको ऐसी मांग के नितांत छिछलेपन का, इसकी मूढ़ता का बोध हो जायेगा। मृत्यु के उपरांत क्या 'मैं' निरंतर रहता है? किसे परवाह है? और यह 'मैं' है क्या जिसे आप निरंतर बनाये रखना चाहते हैं? आपके सुख और सपने, आपकी आशाएं, हताशाएं व हर्ष, आपकी संपत्ति और आपका वह नाम जिसे आप ढोये रहते हैं, आपका छोटा-मोटा चरित्र, और संकीर्ण एवं शिकंजे में कसे हुए अपने जीवन में अर्जित वह ज्ञान जिसमें प्राध्यापकों, साहित्यिक व्यक्तियों व कलाकारों ने अपना-अपना कुछ जोड़ दिया है —यही कुछ है जिसकी आप निरंतरता चाहते हैं, बस इतना ही तो।

तो आप चाहे वृद्ध हों अथवा युवा, इस सब का आपको अंत करना होगा। आपको इसका पूर्णतया अंत ऐसे ही करना होगा जैसे शल्यचिकित्सक छुरे से व्याधिग्रस्त अंग

काटकर अलग कर देता है। तब मन भ्रमरहित तथा भयरहित हो जाता है। अतः वह यह देख पाता है और समझ पाता है कि मृत्यु क्या होती है। जो ज्ञात है उसे थामे रखने की इच्छा के कारण ही भय का अस्तित्व बना रहता है। यह ज्ञात इस वर्तमान में जीता हुआ और भविष्य को रूप-आकार देता हुआ अतीत ही तो है। दिन-प्रतिदिन, वर्ष, प्रतिवर्ष, मृत्युपर्यंत यही तो रहता है हमारा जीवन। ऐसा मन उसे कैसे समझ सकता है जिसमें न कोई समय है और न कोई हेतु—बल्कि ऐसा कुछ जो पूर्णरूपेण अज्ञात है?

आप समझ रहे हैं न? मृत्यु तो अज्ञात है? आपके पास उसके बारे में केवल अवधारणाएं हैं। आप या तो मृत्यु को देखने से आंख चुराते हैं या आप यह कहते हुए इसे तर्कसंगत ठहरा देते हैं कि यह तो अपरिहार्य है, या आप कोई विश्वास पाल लेते हैं जो आपको दिलासा और आशा प्रदान करता रहे। परंतु केवल एक परिपक्व मन, एक ऐसा मन जो भयरहित है, भ्रमरहित है और आत्माभिव्यक्ति व निरंतरता की मूर्खतापूर्ण तलाश के चक्कर में नहीं पड़ा हुआ—केवल ऐसा ही मन देख पाता है और अन्वेषित कर पाता है कि मृत्यु क्या है, क्योंकि वह जानता है कि वर्तमान में कैसे जीना है।

कृपया इसे समझिये। वर्तमान में जीना हताशा के बिना जीना होता है क्योंकि इसमें न तो अतीत को लौटाने की ललक है और न ही भविष्य के लिए संजोयी कोई आशा-उत्कंठा। इसीलिये ऐसा मन कहता है, “मेरे लिये आज पर्याप्त है।” यह न तो अतीत को अनदेखा करता है और न ही भविष्य के लिये आँखें मूंद लेता है, बल्कि इसने चेतना की संपूर्णता को समझ लिया होता है जो केवल व्यक्तिगत ही नहीं, बल्कि सामूहिक भी है, और इसीलिये इसमें औरों से पृथक कोई ‘मैं’ नहीं होता। स्वयं की संपूर्णता को समझ लेने में मन ने व्यष्टि, वैयक्तिक के साथ-साथ समष्टि, वैश्विक को भी समझ लिया होता है। इसलिये ऐसा मन महत्त्वाकांक्षा, मिथ्याभिमान और सामाजिक प्रतिष्ठा को तिलांजलि दे देता है, ये सब उस मन से पूर्णतया विदा हो जाते हैं जो समग्रता से वर्तमान में जी रहा होता है और इसीलिये इसने जो भी जाना है, उसके प्रति यह मरता रहता है—प्रतिदिन, प्रतिपल। यदि आप इतना आगे तक पहुंच जायें तो आप पायेंगे कि जीवन और मृत्यु एक ही हैं। आप पूरी तरह वर्तमान में जी रहे होते हैं—पूर्णतः अवधान में, बिना किसी चयन के, बिना किसी आयास के तब मन हमेशा रिक्त रहता है, और इसी रिक्तता से आप देखते हैं, अवलोकन करते हैं, समझते हैं, अतएव जीना ही होता है मरना। जिसकी निरंतरता होती है वह कभी सर्जनात्मक नहीं हो सकता। जिसका अंत होता चलता है, केवल वही जानता है कि सृजित करना क्या है। जीवन जब मृत्यु भी होता है, तब प्रेम विद्यमान होता है, सत्य व सृजन विद्यमान होते हैं, क्योंकि मृत्यु अज्ञात है, वैसे ही सत्य, प्रेम और सृजन भी अज्ञात हैं। क्या आप कोई प्रश्न पूछना या चर्चा करना चाहते हैं?

प्रश्नकर्ता : मरना क्या ऐच्छिक क्रिया है अथवा यह स्वयं अज्ञात ही है?

कृष्णमूर्ति : महोदय, क्या आप कभी अपने सुख, अपने सुरूर के प्रति मरे हैं—यूं ही, बिना कोई बहस किये, बिना कोई प्रतिक्रिया किये, बिना किन्हीं विशेष प्रतिबंधों को निर्मित करने का प्रयास किये, बिना यह पूछे कि आप इसे कैसे छोड़ें और क्यों छोड़ें?

क्या आपने कभी ऐसा किया है? ऐसा आपको तब करना ही पड़ेगा जब आप शारीरिक रूप से मरेंगे, है न? मृत्यु से हम बहस नहीं कर सकते। उससे हम यह नहीं कह सकते कि मुझे जीने के लिये कुछ और दिन दे दो। उस मरने में कोई ऐच्छिक प्रयास नहीं होता, हम बस मर जाते हैं। अथवा क्या आप कभी अपनी हताशाओं, अपनी महत्त्वाकांक्षाओं के प्रति मरे हैं—आपने उन्हें बस छोड़ दिया हो, उनसे किनारा कर लिया हो, वैसे ही जैसे पतझड़ में कोई पत्ता मरता है—बिना इच्छा से जूझे, बिना यह चिंता किये कि यदि आप ऐसा करते हैं तो आपका क्या होगा। कभी किया है ऐसा आपने? मुझे नहीं लगता कि आपने कभी ऐसा किया हो। जब आप यहां से जायें, तब किसी ऐसी चीज़ के प्रति मर जाइयेगा जिससे आप चिपके हुए हैं—आपकी धूम्रपान की लत, आपकी यौनाचार की ललक, कलाकार, कवि या किसी और रूप में प्रसिद्ध होने की आपकी लालसा—उसे बस छोड़ दीजियेगा, एक किनारे कर दीजियेगा वैसे ही जैसे आप किसी निरर्थक चीज़ को कर देते हैं—बिना प्रयास के, बिना चयन किये, बिना निर्णय लिये। उस चीज़ के प्रति आपका मरना यदि पूर्णरूपेण हुआ—खाली सिगरेट या शराब को छोड़ने भर की बात नहीं जिसे आप एक बड़ा मुद्दा बना लेते हैं—तो आप जान पायेंगे कि पल-प्रतिपल चरमोत्कर्ष में रहना, बिना आयास रहना और अपने संपूर्ण अस्तित्व के साथ जीना क्या होता है। और शायद तब अज्ञात का प्रवेशद्वार खुल जाये।

सानेन,
21 जुलाई 1963

तेरह

आप जानते हैं कि मृत्यु मानव जीवन की अनेक समस्याओं में से एक रही है—शायद सबसे बड़ी समस्या। न तो प्रेम, न भय और न संबंध, बल्कि यह समस्या, यह रहस्य, अवसान का यह एहसास पुरातन काल से ही चिंता का विषय रहा है। यहां हम इस गवेषणा की कोशिश कर रहे हैं कि यह घटना क्या है। मृत्यु क्या है—क्या हम इसे जीने से पृथक करके इसकी छान-बीन कर पायेंगे? आप मेरा प्रश्न समझे न? मैंने मृत्यु को पृथक करके उसे एक ऐसी घटना के रूप में मान लिया है जो जीवन के अंत में आनी है—ठीक है?—एक ऐसी घटना जिसे मैंने स्थगित कर दिया है, दूर रख दिया है, जीने और मरने के बीच एक दीर्घ अंतराल बना लिया है। मरना एक ऐसी घटना है जो कहीं भविष्य में है, जिससे हम भयाक्रांत हैं, कुछ ऐसा जिसे हम चाहते नहीं हैं बल्कि इसे पूरी तरह टाल देने के इच्छुक हैं। फिर भी यह हमेशा विद्यमान रहती है। चाहे दुर्घटना के कारण हो या रोग के अथवा वृद्धावस्था के कारण, यह हमेशा आ ही जाती है। हम चाहे युवा हों या वृद्ध, अशक्त हों या उछलते-कूदते हों, यह आनी ही है। लोगों ने कहा है "जीना तो मरने का केवल एक साधन है। मृत्यु जीवन से अधिक महत्त्वपूर्ण है। जीवन की बजाय मृत्यु पर ध्यान दो।" यह जानकर कि मृत्यु तो होती ही है, लोगों ने हर तरह के दिलासे तलाश लिये हैं—विश्वास में, अवधारणाओं में, इस प्रत्याशा में कि यदि आप सही आचरण करें। तो 'ईश्वर के दाहिने आसन पर विराजमान होंगे' इत्यादि। सारा एशिया पुनर्जन्म में विश्वास करता है। और यहां, आपमें ऐसी कोई तर्कसंगत बना दी गयी आशा तो नहीं है, फिर भी भावुकता पर आधारित आशा तो है ही।

जब आप इस सब को देखते हैं—विश्वासों को, दिलासों को, दिलासा पाने की अपनी आकांक्षा को, इस बात को जानते हुए भी कि अंत तो आना ही है फिर भी यह आशा रखना कि अगले जीवन में भी आप निरंतर बने रहेंगे, और मृत्यु संबंधी तमाम बौद्धिक तार्किकताओं को—जब आप इस सब को देखते हैं तब आपने मरने को जीवन से पृथक कर दिया होता है। मरना जीने से पृथक कर दिया जाता है, दिन-प्रतिदिन के उस जीने से जिसमें तमाम द्वंद्व हैं, संताप हैं, आसक्तियां हैं, हताशाएं हैं, व्यग्रताएं हैं, हिंसा है, व्यथाएं हैं, आंसू हैं, हास्य है। इस मन ने जीने को मरने से पृथक क्यों किया है? जो जीवन हम जीते हैं, दिन-प्रतिदिन जीते हैं उसमें शामिल है इसका आडंबर, इसकी कटुता, इसका खोखलापन, अतिश्रम, नित्यचर्या का ढर्रा, पचास या अधिक वर्षों तक कार्यालय या फैक्टरी में आना-जाना—इस सब को ही हम जीवन कहते हैं। इस कलह, संघर्ष, महत्त्वाकांक्षा, भ्रष्टाचार, क्षण-भंगुर लगाव, उल्लास और सुख, इस सब को ही हम जीवन कहते हैं। और हम कहते हैं कि मृत्यु को इस क्षेत्र में कदम नहीं रखना चाहिये क्योंकि यही तो है जिसे हम जानते हैं, लेकिन मृत्यु को हम नहीं जानते इसलिये इसे दूर ही रखा जाये।

इस प्रकार हम ज्ञात से चिपके रहते हैं—इसे कृपया ध्यानपूर्वक देखिये—हम चिपके रहते हैं ज्ञात से, बीती बातों की यादों से, दुख से, व्यग्रताओं से, स्मृतियों से, अनुभवों से—यही सब हमारा ज्ञात है और इसलिये अतीत भी। हम अतीत से चिपके रहते हैं और इसी को हम ज्ञात कहते हैं। परंतु अज्ञात है मृत्यु, जिससे आप भयाक्रांत रहते हैं। इस प्रकार ज्ञात और अज्ञात के बीच एक चौड़ी खाई बनी रहती है। इस ज्ञात से चिपके रहने को हम अज्ञात के क्षेत्र में प्रवेश करने से बेहतर मानते हैं क्योंकि हमारे मन सदैव ज्ञात की परिधि के भीतर ही काम करते हैं, क्योंकि वहां सुरक्षा है। हम ऐसा सोचते हैं कि वहां सुरक्षा है, निश्चितता है, हम ऐसा सोचते हैं कि वहां स्थायित्व है, परंतु आप यदि ध्यानपूर्वक देखें तो पता चलता है कि यह तो अस्थायी है, पूरी तरह अनिश्चित है। फिर भी हम इसी से चिपके रहते हैं क्योंकि यही कुछ तो है जिसे हम जानते हैं। अर्थात हम केवल अतीत को जानते हैं।

और मृत्यु ऐसा कुछ है जिसे हम नहीं जानते। तो यह विभाजन बना हुआ है और यह इसलिये बना हुआ है क्योंकि विचार ने जीवन को जीने, मरने, प्रेम और तमाम चीज़ों में विभाजित कर दिया है। विचार ने ही कलाकार, व्यापारी, समाजवादी, राजनेता आदि के रूप में विभाजन कर रखा है। विचार ने जीवन को ज्ञात और मृत्यु को अज्ञात मानकर अलग-अलग कर दिया है। ये सब तथ्य हैं।

तो जो मन ज्ञात से चिपका हुआ है, क्या वह उसकी छान-बीन कर सकता है जो स्थायी हो? क्योंकि यही तो हम समझते हैं कि हम किसी स्थायी स्थिति से चिपके हुए हैं : आपके व अन्य के बीच स्थायी संबंध तथा भूमि, संपत्ति, धन, नाम, रूप और विचार का स्थायी स्वामित्व। परंतु क्या कोई चीज़ स्थायी होती भी है, विचार के तौर पर नहीं बल्कि यथार्थ में? इस पर काम करिये। क्या कुछ भी ऐसा है जो स्थायी हो—"मेरा नाम, मेरी प्रतिष्ठा, मेरा घर, मेरी पत्नी, मेरे बच्चे, मेरे आदर्श, मेरे अनुभव?" फिर भी मन स्थायित्व चाहता है क्योंकि उसमें सुरक्षा है। तो यह एहसास हो जाने पर कि यहां कुछ भी स्थायी नहीं है—कुछ भी—वह ईश्वर में या किसी अवधारणा में स्थायित्व गढ़ लेता है, और आप तो जानते ही हैं कि मनुष्य के लिये अवधारणाएं बदलना कितना कठिन होता है। अब यहां यही समर छिड़ा हुआ हैं—आपके और इस वक्ता के बीच, क्योंकि आपके पास वे आदर्श या अवधारणाएं हैं, या चित्र हैं, छवियां हैं जिन्हें आप स्थायी मानते हैं। आपने इस स्थायित्व को वास्तविकता के रूप में स्वीकार कर लिया है। तभी कोई आकर कहता है, "देखिये, कुछ भी स्थायी नहीं है। आपकी अवधारणाएं, आपके देवी-देवता, आपके उद्धारकर्ता, आप स्वयं—वे सभी अस्थायी हैं।" और आप इस बात को देखने-समझने से इनकार कर देते हैं। इस बात का एहसास होना कि इस सब में अस्थायित्व है, अनिश्चितता है, हमारे जीवन को झकझोर देता है। आप जितने अधिक अनिश्चित होते हैं, उतने ही अधिक मानसिक रूप से असंतुलित होते जाते हैं। यह विश्व जितना अधिक विक्षिप्त होता है, आपके कार्यकलाप भी वैसे ही बनते जाते हैं। तो चूंकि आपको कुछ-न-कुछ स्थायी चाहिये ही, अतः आप कोई विश्वास, कोई देवी-देवता, कोई आदर्श, कोई निष्कर्ष, कोई

छवि गढ़ लेते हैं। ये सब मरीचिकाएं है, भ्रम हैं, क्योंकि कुछ भी स्थायी नहीं है। और वह भी जब तक यह मन आधारभूत रूप से कुछ स्थायी नहीं पा लेता, तब तक इसकी सारी गतिविधियां विकृत, असंतुलित और आधी-अधूरी रहेंगी। क्या कुछ ऐसा है जो पूर्णरूपेण स्थायी है? आप इस सब को समझ रहे हैं न? भगवान के वास्ते इसे समझिये, यह आप ही का जीवन है।

यदि कुछ भी स्थायी नहीं है, तो जीवन पूरी तरह निरर्थक हो जाता है। तो क्या कुछ ऐसा है जो स्थायी है—कोई मकान या कोई अवधारणा नहीं—बल्कि कुछ ऐसा जो इस अस्थायित्व के पार और ऊपर हो? हम इसी की गवेषणा कर रहे हैं। आपको इसे थोड़ा ध्यान से समझ लेना होगा, अन्यथा आप इसे चूक जायेंगे।

हम अतीत में जीते हैं और यही अतीत हमारा स्थायित्व, स्थायित्व की हमारी अवस्था बन गया है। जब आप अवलोकन करते हैं, और अतीत के इस भ्रम को देख लेते हैं, तब उस प्रत्यक्ष बोध से क्या प्रकट होता है? मैं देख पाता हूँ कि अतीत में जीने की कुछ उपयोगिताएं तो हैं : मैं अतीत की जानकारी के बिना साइकिल नहीं चला सकूंगा, अंग्रेज़ी नहीं बोल पाऊंगा, कार नहीं चला पाऊंगा या कोई अन्य तकनीकी कार्य नहीं कर पाऊंगा अथवा आपको, अपने मित्र को, अपनी पत्नी व बच्चों को पहचान नहीं पाऊंगा। परंतु क्या मन की कोई ऐसी स्थिति, ऐसा गुणधर्म है, जो उस विचार द्वारा न गढ़ा गया हो जो स्वयं ही अस्थायी है? क्या उस प्रत्यक्ष बोध से कोई स्थिति प्रकट होती है? वह गुणधर्म है प्रज्ञा। यह आपकी प्रज्ञा या मेरी प्रज्ञा नहीं होती, यह तो बस प्रज्ञा होती है—वह प्रज्ञा जो अस्थायित्व को देख पाने और फिर भी असंतुलनजन्य आदतों व गतिविधियों में न बह पाने में सक्षम होती है। चूंकि यह प्रज्ञा है, अतः यह सदैव वही करती है जो सम्यक् है। आप इसे समझे?

इस प्रज्ञा के साथ अब हम मृत्यु को देखने-समझने जा रहे हैं। हम कहते हैं कि मृत्यु एक अज्ञात चीज़ है। अपनी सभी ज्ञात चीज़ों के प्रति आसक्त रहने के कारण जिस बात से हम भयाक्रांत रहते हैं वह है उस आसक्ति का पूर्णतया अंत हो जाना। अपने नाम के प्रति आसक्ति, अपने परिवार, अपने रोजगार के प्रति आसक्ति, जिस पुस्तक को मैं लिख चुका हूँ और जिसे लिखने की उम्मीद रखता हूँ उसके प्रति आसक्ति, या भगवान जाने और किस तस्वीर के लिए आसक्ति, नाना रूपों में आसक्ति। मृत्यु है इन सभी आसक्तियों का अंत हो जाना। तो क्या प्रतिदिन जीते हुए आप आसक्ति से मुक्त हो सकते हैं और इस प्रकार मृत्यु को आमंत्रित कर सकते हैं? आप समझ रहे हैं न, कि मैं किस बारे में बात कर रहा हूँ? आप यह समझ पाये हैं? क्या मेरी बात आपको स्पष्ट हो रही है? तो अपनी पुस्तक की आसक्ति के प्रति, अपनी प्रतिष्ठा, अपने परिवार, अपने रोजगार, अपने मान-सम्मान, अपनी अहम्मन्यता के प्रति, अपनी ईमानदारी के प्रति, और अपनी महिमा के एहसास के प्रति, इसी प्रकार जो कुछ भी है, उस सब के प्रति मैं आसक्त रहता हूँ। मृत्यु का अभिप्राय है इस आसक्ति की इति हो जाना। तो क्या मैं इस आसक्ति की इसी क्षण इति कर सकता हूँ—यही मृत्यु है? इस प्रकार मै मृत्यु को जीवन के इसी क्षण में ले आता

हूँ। तब भय भी नहीं रहता। जब मन इस बात का सत्य देख लेता है कि मृत्यु उन चीज़ों का अंत है जिनके प्रति आप आसक्त हैं—भले ही वह आसक्ति फर्नीचर के प्रति हो, अपने चेहरे के प्रति हो, आदर्शों इत्यादि के प्रति हो—तब आप मृत्यु नामक इस दूर रख दी गई स्थिति को जीवन के तत्क्षण कर्म में ले आते हैं और यही होता है आपकी आसक्ति का अंत। तो मृत्यु का तात्पर्य है उस मन का संपूर्ण नवीनीकरण जो अतीत के पाश में आबद्ध रहा है, आप समझ रहे हैं? तब मन आश्चर्यजनक रूप से जीवंत हो उठता है, अब वह अतीत में नहीं जी रहा होता।

मन यदि यह कदम उठाने में सक्षम है, और यह कदम उठाना बहुत भारी होता है कि आप जिन चीज़ों के प्रति आसक्त हैं उन तमाम चीज़ों का प्रतिदिन पूर्णतया उपसंहार करते चलें, तब आप जीवन और मृत्यु दोनों के साथ प्रतिदिन और प्रतिपल जी रहे होते हैं।

यहां एक समस्या खड़ी होती है : यदि आप ऐसा नहीं कर पाते हैं तो क्या होगा? आप समझे न? मेरा पुत्र ऐसा नहीं कर पाता, अथवा मेरा भाई या मित्र ऐसा नहीं कर पाता, आपने ऐसा कर लिया है परंतु मैं नहीं कर पा रहा। आपने यह प्रयोग कर लिया है क्योंकि आप कर्मशील हैं, अवधानपूर्ण हैं और आपने इस बात को आधारभूत व आमूल रूप से समझ लिया है कि आप किसी भी चीज़ पर कभी भी निर्भर नहीं हैं। इस तमाम निर्भरता का, आसक्ति का अंत कर देना—वह भी तत्क्षण—यही है मृत्यु। तो फिर उन लोगों का क्या होता है जो इस प्रज्ञा में, कर्म की इस परम श्रेष्ठता में प्रवेश नहीं कर पाते, श्रेष्ठ कर्म को नहीं कर पाते?

आप जानते हैं कि अधिकांश लोग अतीत में जीते हैं, विचारहीनता में जीते हैं, विवेकहीनता में जीते हैं। इन तमाम लोगों का क्या होता है? आप तो जीवन के इस बहाव से बाहर निकल आये हैं, अर्थात् आप करुणामय हैं, आप जानते हैं कि आप क्या कर रहे हैं। अतीत, वर्तमान और भविष्य के संपूर्ण महत्त्व और इस सब से संबंधित प्रत्येक बात से अवगत हैं। परंतु मैं ऐसा नहीं हूँ मैं आपको सुनता तक नहीं, मुझे कोई परवाह नहीं। मैं तो बस बढ़िया समय व्यतीत करना चाहता हूँ, मज़े में जीना चाहता हूँ, मेरा सरोकार बस उतना ही है। हो सकता है कि मैं मृत्यु से भयभीत होऊं परंतु मेरे पास दिलासा देने वाला यह विश्वास मौजूद है कि मेरा अगला जन्म होगा अथवा मुझे स्वर्ग मिल जायेगा। तो मेरे साथ क्या होता है? आपका मेरे साथ क्या संबंध रहता है? आप इस सब को समझ चुके हैं। अतः आप करुणापूर्ण हैं, आपके कार्य परम प्रज्ञापूर्ण अतएव उत्कृष्ट हैं, परंतु जो भी आप कह रहे हैं, कर रहे हैं, लिख रहे हैं, सोच रहे हैं, मेरी उस सब में कोई दिलचस्पी नहीं है। मै तो इस बहाव में बहता जा रहा हूँ जिस तरह कि अधिकांश मनुष्य बह रहे हैं। बहुत ही कम लोग हैं जो इस बहाव से बाहर निकल पाते हैं। उस बहाव में बह रहे व्यक्ति से आपका संबंध क्या होता है? क्या उससे आपका कोई संबंध होता है, या फिर कुछ नहीं? जब आप स्वस्थचित्त हैं, तो आपका संबंध विक्षिप्त से कैसे हो सकता है? आप उसके प्रति करुणापूर्ण हो सकते हैं, दयालु हो सकते हैं, उदार और बाकी सब हो सकते हैं परंतु

उसके साथ आपका कोई संबंध नहीं होता। तो अब आप कर क्या सकते हैं?

यदि आप उस बहाव से बाहर निकल आये हैं तो आपका यह दायित्व है कि आप उस जीवन को जीयें। 'मिसाल' न बनें। यदि आप एक 'मिसाल' बनते हैं तो आप सजीवता खो बैठेंगे, तब आप अनुयायी पाल लेंगे, एक प्रमाणपुरुष बन बैठेंगे। तब आप विनाश का सारतत्त्व होंगे, आप स्वयं उस बहाव का कारण बनेंगे। तो आपको करना क्या होगा? आपके ऊपर प्रज्ञापूर्वक कार्य करने का दायित्व है। चूंकि आपने संपूर्ण विषय को देख-समझ लिया है, अतः जिस विषय पर हमने चर्चा की है उसके पूरे मानचित्र का प्रत्यक्ष बोध ही प्रज्ञा ले आता है और उस प्रज्ञा के अनुसार ही आप कार्य करेंगे, न कि इस आधार पर कि "मुझे यह पसंद है" या "मुझे यह नापसंद है"। यही वह दायित्व है।

ब्रॉकवुड पार्क,
7 सितम्बर, 1974

चौदह

कृष्णमूर्ति : आप चाहें तो हम मृत्यु पर चर्चा कर सकते हैं। यह एक बड़ी भारी समस्या है। क्या आप इस विषय में सचमुच जाना चाहेंगे?

हम मृत्यु के विषय में संवाद करने जा रहे है—संवाद यानी किन्हीं दो मित्रों, दो व्यक्तियों या कुछ लोगों के बीच बातचीत, गवेषणा, जो सचमुच इसमें रुचि रखते हैं, किसी मत-सिद्धांत के निरूपण में नहीं बल्कि वस्तुतः अन्वेषण करने में। तो हम गवेषणा, छानबीन कर रहे हैं—किसी मत-सिद्धांत के रूप में कुछ उद्घोषित करने नहीं जा रहे हैं। जब हम किसी चीज़ की समीचीन गवेषणा करते हैं, तब हम उसके सत्य का अन्वेषण कर पाते हैं। सही-सही गवेषणा करने के लिये स्वतंत्रता आवश्यक है। यदि मैं मृत्यु से भयग्रस्त हूँ तो मैं गवेषणा नहीं कर पाऊंगा। क्योंकि वह भय मेरे अन्वेषण को विकृत कर देगा। अथवा मृत्यु व मरणोपरांत किसी भी प्रकार का जीवन होने का कोई विश्वास यदि मैंने पाल रखा है, तो वह भी मेरी छान-बीन को विकृत कर देगा।

मृत्यु जैसी जटिल किसी भी मानवीय समस्या के अन्वेषण के लिये देखने की स्वतंत्रता आवश्यक है। आप में यदि किसी भी प्रकार का पूर्वाग्रह, विश्वास, आशा या भय विद्यमान है, तो आप अवलोकन अथवा अन्वेषण नहीं कर सकते। गहन-गंभीर गवेषणा के लिये ज़रूरी है कि कोई ऐसा पूर्वाग्रह न हो जो तथ्यों को तोड़-मरोड़ दे, और न ही कोई भय हो, आशा या दिलासा देने वाली कोई इच्छा न हो—इस प्रकार का कुछ भी न हो। अवलोकन हेतु मन का एकदम रिक्त होना ज़रूरी है। कुछ भी अन्वेषित करने के लिये यह मूलभूत आवश्यकता है।

प्रत्येक मनुष्य को निरंतरता की इच्छा होती है। पुरातन मिस्रवासियों ने यह इच्छा अलग ढंग से की थी, और आधुनिक लोग इसे अलग ढंग से करते हैं। भले ही वह दफन करते हों या दहन करते हों, परंतु सभी की आशा यही है कि कुछ तो निरंतर रहेगा ही। प्रत्येक मनुष्य के मानस में इस बात की प्रबल चाह रहती है कि किसी न किसी प्रकार की निरंतरता बनी रहे। ठीक है? यह आपमें भी है, नहीं क्या? इसे ध्यान से देखिये। तो वह क्या है जो निरंतर रहता है? क्या कुछ ऐसा है जो निरंतर रहता है, क्या कुछ भी स्थायी है? या, सब कुछ अस्थायी है? आप मेरे प्रश्नों को समझ रहे हैं न? मुझे यह पता लगाना होगा। मुझे अथवा आपको या किसी भी मनुष्य को मृत्यु के प्रश्न में प्रवेश करने से पूर्व सर्वप्रथम तो यही पता करना होगा कि क्या कोई ऐसी स्थायी चीज़ है भी कि जो निरंतर रहती हो। निरंतरता में स्थायित्व निहित है। तो मनुष्य के तौर पर आपमें, क्या कुछ ऐसा है जो निरंतर रहता हो?

प्रश्नकर्ता : निरंतरता की इच्छा।

कृष्णमूर्ति : नहीं, महोदय, ध्यान दीजिये। इच्छा के अलावा, क्या कुछ ऐसा है जो

स्थायी है—निरंतरता के कारण स्थायी, जो कि वह गति है जिसका अंत नहीं है?

प्रश्नकर्ता : हो सकता है।

कृष्णमूर्ति : नहीं, 'हो सकता है' नहीं। पहले इसे ध्यानपूर्वक देखिये। हममें निरंतरता की इच्छा है—इच्छा अर्थात् पहले संवेदन, फिर विचार के रूप में इच्छा और फिर इच्छा द्वारा छवि की रचना करना। इसका क्रम देखिये—संवेदन, विचार, तब इच्छा और छविरचना। तो इच्छा से पृथक क्या कुछ ऐसा है जो स्थायी है अर्थात् ऐसा कुछ, समय जिसे छू न सके? स्थायी से हमारा अभिप्राय यही है, समय इसे परिवर्तित नहीं कर सकता, इसलिये यह एक निरंतर गतिमान चीज़ है। मनुष्य के अंदर क्या कोई चीज़ है जो स्थायी हो?

प्रश्नकर्ता : निरंतरता में समय निहित है।

कृष्णमूर्ति : यह सही है। निरंतरता का अर्थ है समय, परंतु इसका अर्थ यह भी है कि वहां समय का अस्तित्व ही न हो। यदि यह आरंभ से निरंतर है और अंतरहित है तो यह समय से परे है। तनिक ठहरिये, मैं फिलहाल इस खोज में जाना नहीं चाह रहा। तो मानव में, आपमें, मुझमें क्या कोई ऐसी चीज़ है जो स्थायी हो?

प्रश्नकर्ता : अस्तित्व का, अहं का एहसास।

कृष्णमूर्ति : हममें अस्तित्व का एहसास है, अहं का एहसास है—अहं का और जीने का एहसास बचपन से मृत्युपर्यंत—अपने होने का, जीने का एहसास। इन्होंने कहा कि 'मैं' स्थायी है, किसी ने ऐसा कहा। तो यह 'मैं', 'मेरा' है क्या? यह चित्त, यह व्यक्तित्व, क्या है यह? इसे गंभीरता से देखिये। इस बात के साथ खिलवाड़ मत कीजिये। यदि आप सचमुच इस प्रश्न में उतरना चाहते हैं तो एक बात समझ लीजिये कि यह बहुत ही गहन-गंभीर विषय है।

प्रश्नकर्ता : स्मृति रूपी विचार।

कृष्णमूर्ति : आप स्मृति रूपी विचार बता रहे हैं। किसी के कहे अनुसार आप इसे दोहरा रहे हैं या यह आपका देखा हुआ सच है? कृपया ध्यानपूर्वक सुनिये, हम एक चर्चा या कहें कि गवेषणा कर रहे हैं कि यह 'मैं' क्या है—यह 'मैं' अर्थात् आपके जीने का, आपके होने का एहसास। तो यह 'मैं' है क्या? क्या यह 'मैं' स्थायी है? पुरातन हिंदुओं ने प्रतिपादित किया है कि इस 'मैं' का विकास हो रहा है और यह जन्म-जन्मांतर के चक्र में तब तक फंसा रहता है जब तक यह पूर्णता तक अर्थात् अपने सर्वोच्च सार-तत्त्व ब्रह्म तक नहीं पहुंच जाता। तो उस 'मैं' की निरंतरता तब तक बनी रहती है, जब तक वह स्वयं को पूर्ण न कर ले और अपने सर्वोच्च सार-तत्त्व में आत्मसात् न हो जाये। यही पुनर्जन्म की अवधारणा है। पुनर्जन्म—इस शब्द पर ध्यान दीजिये जिसका अर्थ है बारम्बार जन्म लेना। तो हमारा प्रश्न है कि यह 'मैं' क्या है? क्या यह 'मैं' स्थायी है? जो बात आपने स्वयं जान-समझ न ली हो, उसकी केवल पुनरावृत्ति मत कीजिये। तब आप किसी की कही बात केवल दोहरा पर रहे हैं। उसका कोई मूल्य-महत्त्व नहीं है। क्या यह 'मैं' स्थायी होता है? यह 'मैं' है क्या? यह अस्तित्व में आया कैसे? क्या यह कोई आध्यात्मिक सत्ता है और

इसलिये निरंतर बनी रहती है, या फिर यह कुछ ऐसा है जो क्षणभंगुर है—प्रवाहमय और सतत परिवर्तनशील? अपने साररूप में क्या यह कोई आध्यात्मिक तत्त्व है अर्थात् एक अभौतिक प्रक्रिया है? अथवा यह एक भौतिक, पदार्थगत प्रक्रिया है? पदार्थगत प्रक्रिया अर्थात् विचार जो कि पदार्थ है, जिसने विविध घटनाओं, दुर्घटनाओं, वातावरण और परिवार के प्रभावों और टकरावों से आकार पाया है। तो यह सब विचार द्वारा निर्मित भौतिक प्रक्रिया है। विचार ही कह रहा होता है "मैं विचार से भिन्न हूँ"। इस 'मैं' और विचार ने स्वयं को अलग-अलग कर लिया है और कह दिया है "विचार चलता रहेगा, मेरा विचार चलता रहेगा।"

मृत्यु संबंधी इस गवेषणा में आपको स्वयं पता लगाना होगा कि क्या कोई चीज़ स्थायी है, या प्रत्येक चीज़ चलायमान रहती है।

प्रत्येक चीज़—भौतिक प्रक्रिया भी और यह अवधारणा भी कि आप एक आत्मा हैं —दोनों लगातार गति में रहते हैं। गति अर्थात् समय, समय अर्थात् कालक्रम में इधर से उधर पहुंचना, तथा समय अर्थात् मानस को उपजाना-पोसना। गतिमयता; तो क्या कुछ स्थायी है भी, या मनुष्य में सब कुछ परिवर्तित होता जा रहा है?

प्रश्नकर्ता : कुछ तो स्थायी है।

कृष्णमूर्ति : इन्होंने कहा कि कुछ तो स्थायी है। अर्थात् जीवन में कुछ पल होते हैं जब कुछ बोध होता है, या कुछ ऐसा घटित होता है जो समय की परिधि से परे होता है और वह घटना स्थायी है। यही यह सज्जन कह रहे हैं। जब वह घटित होता है और यदि यह स्मृति बन गया है तो...

प्रश्नकर्ता : यह स्मृति नहीं है महोदय।

कृष्णमूर्ति : ठहरिये, सुनिये, मैंने कहा 'यदि' यह स्मृति बन गया है तो यह भौतिक प्रक्रिया ही है, आप इसे भले ही स्थायी कहते रहें हैं। समय के अनुपस्थित होने की यह असाधारण अवस्था यदि घटित होती है और यदि यह स्मृति नहीं बनती तो प्रश्न उठता है कि क्या यह निरंतर रहेगी? अर्थात् आपने किसी चीज़ का अनुभव किया—मैं इस अनुभव शब्द का प्रयोग भी नहीं करूंगा—कुछ ऐसा घटित होना जो समय की परिधि के बाहर है, यदि वह स्मृति के रूप में अंकित नहीं होता है तो यह अब भी समय की परिधि से बाहर ही रहता है। जैसे ही यह स्मृति में अंकित हो जाता है, यह समय की परिधि में आ जाता है। यह एक सरल सी बात है। तो क्या वह घटित होना कुछ ऐसा है जो निरंतर है? या उसका अंत होता है? यदि यह निरंतर है तो समय के अंतर्गत है। देखिये, मैं इस प्रश्न में बहुत सावधानी से उतर रहा हूँ क्योंकि हम एक ऐसे विषय में प्रवेश करने जा रहे हैं जिसमें अत्यधिक अवधान की, खोजबीन के लिये वास्तविक संवेदनशीलता की आवश्यकता है। हमारा प्रश्न है—क्या कुछ स्थायी होता है? अब आपको उत्तर देना है।

प्रश्नकर्ता : हम चाहते हैं कि कुछ स्थायी हो।

कृष्णमूर्ति : स्थायित्व पाने की इच्छा हममें रहती है, मेरा स्थायी घर, मेरा स्थायी नाम, मेरा स्थायी स्वरूप, मेरी स्थायी स्मृतियां, आसक्तियां, हम सब कुछ स्थायी चाहते हैं।

हर आश्वस्ति, हर गारंटी स्थायित्व पर आधारित है। हमें स्वयं यह खोज निकालना है कि क्या कुछ भी स्थायी है?

देखिये, ध्यान दीजिये, मेरे लिये तो कुछ भी स्थायी नहीं है—मैं इसे आप पर नहीं थोप रहा हूँ—कुछ भी स्थायी नहीं है। तो मृत्यु क्या है, यदि 'मैं' की निरंतरता रहती है, उस 'मैं' की निरंतरता जिसकी सारी संरचना विचार द्वारा रची गई है, विचार अर्थात् शब्द अर्थात् नाम, नाम जो रूपाकार के साथ जोड़ दिया जाता है? साफ है कि इस शरीर, अवयव-पुंज का नाम, रूप, एवं मानस की संपूर्ण संरचना—यह सब विचार-रचित है। अथवा, "नहीं नहीं, इसके पीछे, कहीं अधिक कुछ आध्यात्मिक है", क्या आप ऐसा कहेंगे? और यदि इसके पीछे कहीं अधिक कुछ आध्यात्मिक है और आप कहते हैं कि उसका अस्तित्व है, तो यह भी विचार का ही अंश है। आप समझे न? यदि आप कहते हैं कि समय के पर्दे के पीछे—जो कि एक सुंदर अभिव्यक्ति है—कुछ है जो नितांत समयातीत है, तो आपने उसे पहचान लिया है, ठीक? यदि आप उसे पहचान गये हैं तो वह आपकी स्मृति का अंश ही है। और यदि यह स्मृति है तो यह विचार की भौतिक प्रक्रिया ही है। यदि उस पर्दे के पीछे कुछ वास्तविक है, सत्य है अतएव विचार का विषय नहीं है, तो उसे आप नहीं जानते हैं। जब आप इस बात का दावा करते हैं कि वहां कुछ आध्यात्मिक है, एक आध्यात्मिक सत्त्व है, तो समझिये कि आप उसे पहले ही प्रदूषित कर चुके हैं अतः वह आध्यात्मिक नहीं रह जाता। इसे एक बार भली-भांति समझ लीजिये और आप देख पायेंगे। ऐसा है कि यह बहुत सारे हिंदुओं का प्राचीन चातुर्य है कि ईश्वर, ब्रह्म आपके भीतर ही है और आपको बस प्याज़ के छिलकों की तरह उस पर से परत दर परत हटाती चली जानी है। आप समझे न? अर्थात् आपने अपने भीतर विचार द्वारा एक ईश्वर स्थापित कर लिया और फिर विचार ही कहता है, "मुझे इस तक पहुंचना है, अतः मुझे काम करने दें।"

तो यदि समस्त विचार एक भौतिक प्रक्रिया है, और जो कुछ इसने रचा है वह भी एक भौतिक प्रक्रिया ही है भले ही यह कहता हो, "एक स्थायी मैं होता है", फिर भी यह रहेगा विचार-संरचना का एक अंश ही। तो अंत होना क्या है, जिसे हम मृत्यु कहते हैं? पता नहीं आप इसे समझ पा रहे हैं या नहीं। इसे बस ध्यान से सुनिये, इसे देखिये, मुझे उत्तर मत दीजिये, इसका उत्तर देने से पूर्व ध्यान से देखिये। जैसा कि हममें से अधिकांश लोग निरंतरता की इच्छा रखते हैं, और इसलिये मृत्यु से भयभीत हैं, तो तब क्या होता है जब एक अंत आ ही जाता है जिसे मृत्यु कहते हैं?

मैं इस बात को बिल्कुल सरल बनाकर रख रहा हूँ। एक साधारण व्यक्ति कहता है, "मुझे निरंतरता चाहिये। मैं मृत्यु से भयभीत हूँ।" परंतु अंत तो फिर भी आता ही है। मैं मर जाता हूँ। हो सकता है मैं मरना न चाहूँ, मृत्यु के आ जाने पर रोने लगूं, उसके विरुद्ध जूझता रहूँ, परंतु वह तो अपरिहार्य होती है। इसलिये मैं पूछ रहा हूँ कि जब निरंतरता की इच्छा भी हो, और अंत भी सामने आ खड़ा हो, तब क्या होता है?

अवयवों के इस पुंज की भी मृत्यु होती है और इस मानस की भी। ये एक दूसरे में

गुंथे हुए हैं—अन्योन्याश्रित, मनौदैहिक, वह सब कुछ। मनुष्य कहता है, “मुझे बना रहना होगा, मैं निरंतरता चाहता हूँ, यही मेरा जीवन है। भगवान के वास्ते मेरी सहायता कीजिये क्योंकि मेरी एकमेव इच्छा है निरंतर बने रहना।” परंतु मैं पूछता हूँ, “ठीक है मेरे दोस्त, परंतु क्या होगा जब वह अंत आ ही जायेगा जो अपरिहार्य है? अंत किसी दुर्घटना, किसी रोग के माध्यम से या किसी न किसी प्रकार से आ ही जाता है, तब क्या होता है? जो होता है उसका पता लगाने के लिये आपको यह अन्वेषण करना होगा कि क्या यह मानस, यह मैं एक स्थायी चीज़ है या अस्थायी। यदि यह अस्थायी है तो अंत आ जाने पर क्या होता है?” कृपया उत्तर मत दीजिये, बल्कि इसे ध्यानपूर्वक देखिये। अपने आप इसे खोजिये। यह बहुत महत्त्वपूर्ण है क्योंकि मनुष्य तो कहता है, “मुझे अमरत्व पाना है।” प्राचीन मिस्रवासियों ने मकबरों में अपने दैनिक जीवन की नित्य-निरंतरता में अमरत्व खोजा। यदि आपने मिस्री मकबरों को देखा हो, या उनके विषय मे पढ़ा हो तो आप जानते होंगे कि उनकी इच्छा यही थी कि वे आगामी हजारों-लाखों वर्षों तक निरंतर बने रहें। नील घाटी सुरक्षित थी—दोनों ओर मरुस्थल होने के कारण—और इसी बात ने मिस्रवासियों को स्थायित्व का एक एहसास दे दिया और इस स्थायित्व को उन्होंने निरंतर जीवन के रूप में व्याख्या दे दी। आप इसके बारे में पढ़ सकते हैं, और यदि आपकी इसमें रुचि है तो इसे देख सकते हैं। और प्राचीन हिंदुओं ने कहा कि व्यक्ति, भले ही वह अस्थायी है, परंतु तब तक निश्चित रूप से निरंतर बना रहता है जब तक वह उस पूर्ण मूलतत्त्व, सर्वोच्च सारतत्त्व में विलीन नहीं हो जाता। अथवा, उनके अनुसार, ईश्वर आपके भीतर है और अनेकानेक पुनर्जन्मों से गुज़रते हुए आपको अपने अहं को इतनी पूर्णता तक ले आना होगा कि वह अपने सर्वोच्च सारतत्त्व तक पहुंच जाये। और ईसाइयों का अपना अलग मार्ग है—मृतोत्थान और इसी प्रकार की अन्य चीज़ें।

तो मैं एक मनुष्य के तौर पर खोजना चाहता हूँ। यद्यपि मेरी इच्छा निरंतरता की रहती है तथापि मैं जानता हूँ कि मृत्यु तो अपरिहार्य है। यह अपरिहार्य है—भले ही आप इसे पसंद करें या न करें, यह तो आनी ही है। तो मैं स्वयं से प्रश्न कर रहा हूँ कि क्या होता है जब यह अंत आ ही जाता है।

प्रश्नकर्ता : यह एक बड़ा आघात होता है।

कृष्णमूर्ति : देखिये, मेरा प्रश्न यह नहीं है। हम इस पर एक और तरीके से चर्चा करेंगे। आप मेरे प्रश्न का उत्तर नहीं दे पा रहे हैं क्योकि आप इसके रू-ब-रू नहीं हो रहे हैं, इसे ध्यानपूर्वक नहीं देख रहे हैं, अन्वेषण हेतु गंभीरतापूर्वक इसमें उतरे नहीं हैं।

“मै निरंतर रहना चाहता हूँ, यही मेरी आशा है, मेरी इच्छा है, मेरी चाहत है। मैं अपने इस परिवार, साज-सामान, अपनी इन पुस्तकों और उन तमाम चीज़ों के साथ विगत अस्सी वर्षों से निरंतर रहता आया हूँ जिन्हें मैं इन वर्षों में एकत्रित करता रहा हूँ, इसलिये इन चीज़ों के साथ रहते रहने के लिये कृपया मुझे एक हजार वर्ष और प्रदान कीजिये।” परंतु मृत्यु आगे बढ़कर यह कहते हुए मेरा हाथ थाम ही लेती है, “नहीं मित्र, तुम्हें मरना ही है।” उसके बाद क्या होता है, मनुष्य तो चाहता है निरंतरता, और अंत तो है

ही। निरंतरता वह सब है जिसे मानव-मन ने एकत्रित किया है : जानकारी, सामान, अवधारणाएं, आसक्तियां, संपत्ति, विश्वास, देवी-देवता—इस सब को मैं अनंत काल तक निरंतर बनाये रखना चाहता हूँ। परंतु मृत्यु आ धमकती है और कहती है, "इसका अंत करिये।" तो मेरा प्रश्न है कि वह क्या है जिसका अंत हो जाता है?

प्रश्नकर्ता : मानस।

कृष्णमूर्ति : क्या आप इस बारे में सुनिश्चित हैं? महोदय, सचेत रहिये, केवल अनुमान मत लगाइये। मैं इस विषय पर कई सारे लोगों के साथ चर्चा करना वास्तव में पसंद नहीं करता क्योंकि वे गंभीर नहीं रहते। इसके लिये बहुत गंभीरता की आवश्यकता है न कि हर समय शब्दों का ताना-बाना बुनने की। मैंने कहा था कि संवेदन अर्थात् इंद्रियगत अनुभूति और विचार के माध्यम से इच्छा अस्तित्व में आती है, तब विचार जो कि इच्छा है, उसे एक नाम मिल जाता है, जैसे कि 'के' (कृष्णमूर्ति), 'के' का रूपाकार, और इसमें होती है मेरी चेतना की सारी अंतर्वस्तु, जिसे विचार ने निर्मित-एकत्रित किया है, जिसे मैं निरंतर बनाये रखना चाहता हूँ। मैं विचार को उसकी पूरी अंतर्वस्तु के साथ, उसकी सारी आसक्तियों, सारी पीड़ाओं, सारे कष्टों, सारे संतापों और सारी मरीचिकाओं के साथ चाहता हूँ—यही सब मैं निरंतर बनाये रखना चाहता हूँ।

जब यह शरीर मरता है, तब यह भौतिक प्रक्रिया अर्थात मस्तिष्क संरचना, जो कि विचार प्रक्रिया है, मर जाती है। आप समझे न? मुझे मालूम नहीं कि आप यह सब देख भी पा रहे हैं।

प्रश्नकर्ता : (अस्पष्ट)

कृष्णमूर्ति : महोदय, मैं ही यह संसार हूँ और संसार ही 'मैं' है। यह एक तथ्य है। यह संसार 'मैं' है—एक अवधारणा की तरह नहीं, किसी मत-सिद्धांत की तरह नहीं बल्कि वास्तविकता में ऐसा है। मैं ही विश्व हूँ और यह विश्व ही मैं हूँ—यह उतना ही वास्तविक तथ्य है कि जैसे मैं स्वयं को सुई चुभाऊं तो मुझे दर्द होगा। इस 'मैं' को विचार द्वारा रचा गया है। यह एक भौतिक, पदार्थगत प्रक्रिया है। विचार पदार्थ है, एक भौतिक प्रक्रिया है, क्योंकि यह उस स्मृति का प्रत्युत्तर है जो मस्तिष्क में जानकारी के रूप में संग्रहीत है, इसीलिये जब यह मस्तिष्क मरता है तब यह भौतिक प्रक्रिया भी मर जाती है। तब क्या होता है? आप मेरा प्रश्न समझ रहे हैं न?

प्रश्नकर्ता : वह भौतिक प्रक्रिया मर जाती है।

कृष्णमूर्ति : महोदया, यदि मैं यह पूछूं तो इसे मेरी अशिष्टता मत मानियेगा, कि जब आप कह रही हैं कि वह भौतिक प्रक्रिया मर जाती है, तो क्या आप इसी क्षण उसके प्रति मरी हैं? मृत्यु आ जाने पर नहीं, बल्कि अभी। आप समझ गईं न? मैं इसे स्पष्ट किये देता हूँ।

मैं संसार हूँ और यह संसार ही मैं है। मेरी चेतना संसार की चेतना है। मेरी चेतना की अंतर्वस्तु इस संसार की चेतना की अंतर्वस्तु है। यह अंतर्वस्तु विचार द्वारा एकत्रित की गयी है—मेरा साज-सामान, मेरा नाम, मेरा परिवार, मेरा बैंक खाता, मेरा विश्वास, मेरे

धर्म-सिद्धांत यही सब मेरी चेतना में है और यही है संसार की चेतना भी। जब तक आप यह नहीं देख लेते, तब तक आप उस विषय में आगे नहीं बढ़ पायेंगे जिसकी हम छानबीन कर रहे हैं। तो इस चेतना का, अर्थात् इस भौतिक प्रक्रिया का अंत हो जाता है क्योंकि अवयवों का यह पुंज किसी रोग अथवा किसी दुर्घटना इत्यादि के कारण ढह जाता है, बंद हो जाता है अतः मस्तिष्क का क्षरण हो जाता है, वह नष्ट हो जाता है और इस प्रकार विचार प्रक्रिया का भी अंत हो जाता है। यह विचार प्रक्रिया जिसने इस अहं को, इस मैं को रचा था, उसका अंत हो जाता है। तो मैं पूछ रहा हूँ कि जो कुछ विचार ने चेतना के रूप में संजोया है, रचा है, जो कि 'मैं' है, और यह संसार है, इस सब के प्रति क्या अभी इसी क्षण मर जाना संभव है? मेरा प्रश्न आप समझ रहे हैं न?

प्रश्नकर्ता : जो आप कह रहे हैं, उसे हम स्वीकार नहीं कर सकते। यह तो अस्तित्व-विनाश, सब कुछ मिट जाना हुआ।

कृष्णमूर्ति : इनका कहना है कि हम स्वीकार नहीं कर सकते क्योंकि इस का अर्थ होगा अस्तित्व-विनाश; यह हम स्वीकार नहीं कर सकते," क्यों नहीं, यदि यही सत्य हो तो? इसीलिये तो आप कुछ ऐसा चाहते हैं जो निरंतर रहे। आप कुछ ऐसा चाहते हैं जिसका अंत न हो, अर्थात् स्वयं आपका अंत न हो—तमाम दुखों, सारे ताम-झाम सहित अनंतता हो। तो मैं स्वयं से कहता हूँ, "चूंकि मैं ही संसार हूँ और संसार ही यह 'मैं' है अतः मेरी चेतना संसार की ही चेतना है, और इस चेतना की तमाम अंतर्वस्तु जो इस चेतना को निर्मित करती है, विचार द्वारा रचित-संचित है : सारे विश्वास, धर्म-सिद्धांत, रीति-रिवाज—सब विचार द्वारा बनाये गये हैं।" मैं स्वयं से पूछता हूँ कि क्या यह सब पचास वर्ष बाद नहीं बल्कि अभी मर सकता है?" अर्थात् यह अंतर्वस्तु अभी क्या स्वयं ही अपने आप को रीता कर सकती है? आप समझे न? अर्थात् मृत्यु पचास वर्ष बाद नहीं अभी इसी क्षण हो?

जब आप मरते हैं, तब आपका शरीर नष्ट हो जाता है और आपके मस्तिष्क का भी अंत हो जाता है। तो आपकी चेतना की वह सारी अंतर्वस्तु यथावत् निरंतर नहीं बनी रह सकती क्योंकि वह तो विचार प्रक्रिया थी। तो मैं स्वयं से, और आपसे पूछ रहा हूँ—मैं आपसे पूछ रहा हूँ, स्वयं से नहीं, मैं आपसे एक मनुष्य होने के नाते पूछता हूँ—इस बात की युक्तियुक्तता और तर्क देखते हुए अतएव तर्क से पार जाते हुए, इसका सत्य देखते हुए, इसमें अंतर्दृष्टि प्राप्त करते हुए, कि आप ही संसार हैं और यह संसार आप ही हैं, कि आपकी चेतना ही संसार की चेतना है, जब आप यह देख लेते हैं तब क्या विचार द्वारा रचित तमाम चीज़ों का अंत नहीं हो जाता, पचास वर्ष उपरांत नहीं बल्कि 'अभी'? क्या आप मेरा प्रश्न समझ पाये हैं? देखिये, यह अत्यंत गंभीर विषय है।

मेरी चेतना का एक अंश है कि मैं विश्वास करता हूँ। विश्वास मेरी चेतना का अंश है। पूरी दुनिया में मनुष्य किसी न किसी चीज़ में विश्वास रखता आया है : ईश्वर में, आदर्श राज्य में, अपने अनुभव में, ईसा में, बुद्ध में। विश्वास करना मनुष्य की सांझी फितरत रही है। यह विश्वास विचार द्वारा रचा जाता है जो कि एक भौतिक प्रक्रिया है। क्या आप उस

विश्वास का अभी उस तरह से अंत कर सकते हैं जैसा कि आप मरते समय करने वाले हैं? किसी भी चीज़ में अपने विश्वास का इसी क्षण अंत कर डालिये और फिर देखिये क्या होता है। यह मत कहिये कि “मुझे विश्वासों का अंत करने से डर लगता है, क्योंकि विश्वास मुझे भरपूर सुरक्षा देतें हैं।” आप एक मरीचिका में, भ्रांति में सुरक्षा के दर्शन कर रहे हैं—अतः यह सुरक्षा बिल्कुल नहीं है। क्या आप अभी इसके प्रति मर सकते हैं? क्या आप अभी विश्वास के प्रति मर सकते हैं?

किसी विश्वास विशेष के प्रति नहीं अपितु विश्वास ही के प्रति? अधिकांश लोगों के कुछ आदर्श होते हैं, और यह विचित्र विडंबना है कि संसार में कहीं भी जाइये, प्रत्येक मनुष्य का कोई न कोई आदर्श होता ही है, चाहे वह जैसा भी हो—श्रेय, हेय, यथार्थपूर्ण इत्यादि। और स्पष्ट है कि ये आदर्श विचार द्वारा रचे जाते हैं—जो मैं वास्तव में हूँ, यह उसके विपरीत एक भौतिक प्रक्रिया है। तो क्या आप इसके प्रति मर सकते हैं?

जब तक आप इस सब के प्रति मर नहीं जाते तब तक शायद आप अगले प्रश्न का उत्तर न दे सकें जिसका उत्तर हम मरने से पूर्व पाना चाहते हैं। उसी उत्तर के लिए हम लालायित रहते हैं, आप समझ रहे हैं? यदि वह आपको बता दिया जाये, शब्दों में उतार दिया जाये और फिर यह आम बात हो जाये तो आप सब उसमें विश्वास करने लगेंगे। यह बात गली-गलियारों की हो जायेगी और मैं यह निंदात्मक, अपमानास्पद अर्थ में नहीं कह रहा, मेरा मतलब है कि यह आम, मामूली-सी बात हो जायेगी। तब यह एक विश्वास बन जायेगा और हम सब इससे खुश हो जायेंगे। परंतु न जानते हुए मरना—आप समझे? नहीं, आप नहीं समझ रहे हैं। हम केवल तथ्यों के आधार पर विमर्श कर रहे हैं, किसी प्रमेय, सूत्र-सिद्धांत के आधार पर नहीं और न ही दिलासा देने वाली अथवा उत्थानकारी परिकल्पित अवधारणाओं के आधार पर। हम दैनिक जीवन के वास्तविक तथ्यों से दो-चार हो रहे हैं। हमारा दैनिक जीवन विचार द्वारा संचित बातों से रचित है। और विचार एक भौतिक प्रक्रिया है।

इस बात को मैं दूसरे ढंग से रखता हूँ। मनुष्य अपने दुखों, संतापों और अपने उलझावों का अंत नहीं करता है। तब वह शेष संसार के समान ही होता है। वह मर जाता है, परंतु दुख, विभ्रम, संताप का विशाल विस्तार फिर भी जारी रहता है। यह तथ्य है। किसी नदी की विशाल जलराशि की तरह मनुष्य का भारी दुख चलता ही रहता है। भगवान के वास्ते इस सब को देखिये। यहां कितनी हिंसा, घृणा, और ईर्ष्या है, यह वही विशाल नदी है। हम मनुष्य इस नदी के अंश हैं। जब तक कि मैं इस नदी के प्रति मर नहीं जाता तब तक यह बहती ही रहेगी—यह नदी जो कि संसार है बहती ही रहेगी। तो जो व्यक्ति, जो मनुष्य इस नदी से बाहर निकल जाता है वही जान पाता है कि जो है, उसके पार क्या है। परंतु जब तक आप इस नदी में बने रहते हैं, एक पांव बाहर और एक पांव इसमें रखे रहते हैं, खेल करते हैं—जैसा कि हममें से अधिकांश किया करते हैं—तब तक आप नहीं जान पायेंगे कि मृत्यु के परे क्या है। अर्थात् हमें किसी प्रत्याशा के बिना प्रत्येक चीज़ के प्रति मरना होगा। आप यह सब समझ रहे हैं न? यह सबसे कठिन कार्यों में से

एक है। जो मनुष्य प्रत्येक चीज़ के प्रति मर जाता है, वही उसे जान पाता है जो शाश्वत है।

प्रश्नकर्ता : (अस्पष्ट)

कृष्णमूर्ति : महोदय, आप वापस मत-सिद्धांतों में जा रहे हैं।

देखिये, महोदय, इस पर गौर कीजिये। आपको मालूम ही है कि किसी भी विषय में आदि से अंत तक अत्यधिक अवधान के साथ पैठना, चर्चा या संवाद करना सर्वाधिक कठिन कामों में से एक है। बहुत कम लोग ही ऐसा कर पाते हैं। और यह एक ऐसा विषय है जिसे आपके संपूर्ण अवधान की आवश्यकता है न कि शब्दाडंबर की व सिद्धांतों इत्यादि की, अपितु अविरत अवधान की, लगातार ध्यान देने की। बहुत कम लोग ही ऐसा कर पाते हैं, बहुत कम लोग ही ऐसा करना चाहते हैं। वे यह कर सकते हैं परंतु वे बहुत ही आलसी, बहुत ही उदासीन होते हैं। यदि इसके प्रति वास्तव में आपका झुकाव हो गया है, इसके प्रति आप आकर्षित हो गये हैं, खोज निकालना चाहते हैं तो आपको इस पर पूरा अवधान देना होगा। अतः इसमें शब्दों की आवश्यकता नहीं है बल्कि आपको इसमें आगे, आगे और आगे बढ़ते जाना है—यह जाने बिना कि आप जा कहां रहे हैं। यही मृत्यु है। जब आप मरते हैं तब जो कुछ आप जानते हैं, उसका अंत हो जाता है। तो जो कुछ आप जानते हैं उसके प्रति क्या अभी ही नहीं मरा जा सकता? तब आप स्वयं जान पायेंगे कि वह सत्य क्या है जिसमें कोई मरीचिका, कोई भ्रांति नहीं है, कुछ भी निजी नहीं है। वह सत्य न मेरा है न आपका। वह तो बस सत्य है।

सानेन,
30 जुलाई 1976

पंद्रह

क्या यह संभव है कि हम सामंजस्य और सौंदर्य के एहसास के साथ जीवन जियें, कभी न खत्म होने वाली परितुष्टि के साथ—बल्कि परितुष्टि शब्द का प्रयोग मैं न ही करूं तो ठीक है क्योंकि परितुष्टि तो कुंठा लाती है—परंतु कर्म की क्या कोई ऐसी अंतहीन अवस्था है जिसमें न कोई दुख हो, न पश्चात्ताप, न ही किसी तरह का खेद? यदि कोई ऐसी अवस्था है तो उस तक पहुंचना कैसे हो? ज़ाहिर है कि ऐसी अवस्था को उपजाया-पोसा नहीं जा सकता। व्यक्ति यह नहीं कह सकता, "मैं सामंजस्यपूर्ण बनूंगा", उसका कोई मतलब नहीं है। सामंजस्यपूर्ण बनने के लिये स्वयं को नियंत्रित रखना चाहिये, यह मान लेना एक बचकानी सोच होगी। संपूर्ण अविखंडन की, अखंड कर्म की अवस्था केवल तभी आ सकती है जब व्यक्ति इसके पीछे दौड़ न रहा हो, जब मन जीने के किसी बने-बनाये ढर्रे पर चलने के लिये स्वयं को बाध्य न कर रहा हो।

हम में से अधिकांश लोगों ने इस सब पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया है। अपने दैनिक कार्यकलाप में हमारा सरोकार केवल समय से रहता है क्योंकि समय ही भूलने में हमारी सहायता करता है, वह हमारे घाव भर देता है—अस्थायी रूप से ही सही, वह हमारी हताशाओं और खिन्नताओं को मिटाता है, दूर करता है। इस समय-चक्र में उलझे रहते हुए कैसे कोई उस असाधारण अवस्था तक आन पहुंचे, जिसमें किसी तरह का विरोधाभास न हो, जीने के लिये उठाया गया हर कदम एक समग्र कर्म हो और दैनिक जीवन एक वास्तविकता? हममें से प्रत्येक व्यक्ति इस प्रश्न को स्वयं से यदि गंभीरतापूर्वक पूछे तो मैं समझता हूँ कि इस समस्या की तह खोलने के लिये हम एक दूसरे से बातचीत कर पायेंगे, परंतु आप यदि केवल शब्दों को सुन रहे हैं तो समझ लीजिये कि आप और मैं इस सहसंवाद में भाग नहीं ले रहे हैं। हम इस गंभीर चर्चा में, इस सहसंवाद में तभी सम्मिलित हो पायेंगे जब यह समस्या हम दोनों की हो। तब यह केवल मेरी समस्या नहीं रहेगी जिसे मैं आप पर थोप रहा होऊं, या जिसका आप अपने विश्वास और अपनी स्वभावगत खासियत के अनुसार अर्थ निकाल रहे हों। यह एक मानवीय समस्या है, वैश्विक समस्या है। और यदि यह बात हममें से प्रत्येक को बिलकुल साफ दीख जाये तो जो मैं कह रहा हूँ वह हम दोनों के बीच सहसंवाद का वातावरण तैयार कर देगा और हम साथ-साथ इसकी गहराइयों में उतरते जा सकेंगे।

तो समस्या क्या है? समस्या यह है : ज़ाहिर है कि एक ज़बरदस्त परिवर्तन अनिवार्य है—केवल सतही तौर पर नहीं, हमारी बाहरी गतिविधियों में ही नहीं बल्कि भीतर भी, गहरे तक एक आंतरिक क्रांति चाहिये जो हमारे सोचने के तौर-तरीकों का कायाकल्प कर दे और जीने के एक ऐसे ढंग को जन्म दे जो स्वयं में एक समग्र कर्म हो। परंतु ऐसी क्रांति होती क्यों नहीं है? समस्या यही है और इसी को हम देखने जा रहे हैं। तो

आइये, हम भीतर गहरे पैठें और इस समस्या की जड़ तक पहुंचें।

इस समस्या के मूल में है भय, है न? कृपया स्वयं इसको देखिये, और मुझे किसी श्रोता-समूह को संबोधित करता हुआ एक वक्ता भर मत मान बैठिए। मैं इस समस्या में आपके साथ पैठना चाहता हूँ क्योंकि आप और मैं मिलकर यदि इसकी गवेषणा करते हैं और इससे उद्‌भूत, इससे निःसृत सत्य को हम दोनों ही समझ पाते हैं तो उस समझ से वह कर्म जन्म लेगा जो न आपका होगा, न मेरा, और उन अवधारणाओं का अस्तित्व ही समाप्त हो जायेगा जिनको लेकर हम लगातार झगड़ते आये हैं।

मैं महसूस करता हूँ कि एक ऐसा बुनियादी डर है जिसे उघाड़ा जाना ज़रूरी है। यह डर रोजगार खोने के डर से, कुछ बिगड़ जाने के डर से तथा बाहरी अथवा भीतरी असुरक्षा के डर से कहीं अधिक प्रबल होता है। परंतु इस अन्वेषण में बहुत गहरे उतरने से पहले हमें वे भय देख लेने चाहियें जो हमारे जाने-पहचाने हैं, जिनका हमें भान है। इन्हें मुझे आपको नहीं बताना पड़ेगा क्योंकि इनको आप स्वयं ही देख सकते हैं : 'कोई क्या कहेगा' का भय, अपने पुत्र, पत्नी या पति की दुखद मृत्यु का भय, रोग का भय, अकेलेपन का भय, सत्य, ईश्वर, स्वर्ग अथवा आप उसे जो भी नाम दें उसकी उपलब्धि न हो पाने का भय। वनवासियों अथवा आदिवासियों के भय एकदम सीधे-सादे होते हैं, परंतु हममें तो असंख्य ऐसे भय भरे हुए हैं जिनकी जटिलता उसी मात्रा में बढ़ती जाती है जितने अधिक हम 'सभ्य' होते जाते हैं।

तो भय क्या होता है? क्या कभी आपने भय का वास्तव में अनुभव किया है? कहीं आपका रोजगार न चला जाये, कहीं सफलता आपके हाथ से फिसल न जाये, कहीं आपका पड़ोसी आपको कुछ उल्टा-सीधा न कह दे, और मृत्यु तो हमेशा मुँहबाये आस-पास खड़ी ही रहती है। ये सब आपके भीतर भय उत्पन्न करते रहते हैं और आप योग के, ग्रंथों के, ईश्वर में विश्वास के, विविध मनोरंजनों के सहारे और ऐसी ही और तमाम चीज़ों के ज़रिये इस भय से दूर भागते रहते हैं। इसलिये मैं पूछ रहा हूँ: क्या आपने कभी भय का वास्तव में अनुभव किया भी है या आपका मन इससे बचने को सदैव भागता ही रहा है?

मृत्यु के भय को ही लीजिये। मृत्यु से भयभीत रहते हुए भी आप यह तर्क देकर इसे दूर करते रहते हैं कि मृत्यु तो अवश्यंभावी है, सब मरते ही हैं। औचित्य ठहराने की यह प्रक्रिया, तथ्य से एक पलायन ही है। कुछ और नहीं तो आप पुनर्जन्म में ही विश्वास करने लगते हैं जो आप को संतोष देता है, दिलासा देता है, परंतु भय तो तब भी बना ही रहता है।

अथवा, आप पूर्णतया वर्तमान में जीने का प्रयास करने लगते हैं ताकि आप भविष्य के बारे में सब कुछ भूल जायें और आपका सरोकार केवल आज व अब से ही रहे, परंतु यह भय है कि तब भी जाता ही नहीं। मेरा प्रश्न है कि क्या आपने कभी वास्तविक भय को जाना है—उस अनुमानित भय को नहीं जिसकी मन केवल कल्पना कर लेता है? इस बात को थोड़ा और स्पष्ट करूं? नमक का स्वाद तो आप जानते ही हैं। इसी तरह आपने पीड़ा को, कामुकता को, ईर्ष्या को भी महसूस किया है। क्या आप भय

को ठीक उसी तरह जानते हैं या फिर आपने बस एक धारणा बना ली है कि भय क्या है—सचमुच आपका इससे कभी वास्ता नहीं पड़ा है? मेरी बात स्पष्ट है न?

आप मृत्यु से भयभीत तो हैं परंतु वह भय होता क्या है? आप मृत्यु की अपरिहार्यता को देखते-समझते हैं, परंतु चूंकि आप मरना नहीं चाहते अतः उससे भयभीत रहते हैं। पर आपने यह तो कभी जाना ही नहीं कि मृत्यु क्या होती है। इस बारे में आपने बस एक राय, एक धारणा बना डाली है। तो आप भयभीत हैं मृत्यु की धारणा से। यह एक सीधी-सरल बात है; इसे समझने में हमें दिक्कत क्या आ रही है?

मृत्यु का सचमुच अनुभव करने के लिये इससे बचकर निकलने का प्रयास करने के बजाय आपको पूर्णतया इसके साथ होना होगा, सर्वथा इसमें रहना होगा और इसके बारे में विश्वास और अवधारणाएं नहीं पालनी होंगी। मै नहीं समझता कि हममें से अधिकांश ने भय को कभी इस प्रकार अनुभूत किया हो क्योंकि हम तो हमेशा भय से बचकर निकलते रहे हैं, इससे दूर भागते रहे हैं। हम कभी इसके साथ नहीं रहे हैं, हमने कभी इसके भीतर झांककर नहीं देखा है, कभी यह पता नहीं लगाया है कि आखिर यह है क्या।

क्या मन भय के साथ रहने में सक्षम है, क्योंकि वह हिस्सा तो उसी का है। भय को टालते रहने या इससे बचकर निकल जाने के बजाय क्या मन उस एहसास को जी सकता है? मेरे विचार में चूंकि हम हमेशा भय से दूर भागते रहते हैं, इसीलिये हम इतना अधिक विरोधामास भरा जीवन जिया करते हैं।

जैसे-जैसे हम उम्रदराज़ होते जाते हैं, वैसे-वैसे हमें इस बात का भान होने लगता है कि मृत्यु सदैव हमारी प्रतीक्षा में है। और आपको इससे डर लगता है, है कि नहीं? अब आप इस भय को कैसे समझेंगे? किस तरह आप मृत्यु के इस भय से मुक्त होंगे? मृत्यु क्या है? जो कुछ भी आपने जाना है, असल में यह उस सब का अंत है। वस्तुतः यही तथ्य है। आप बचे रहेंगे या नहीं यह तो मुद्दा ही नहीं है। मृत्यु के उपरांत भी बने रहना एक अवधारणा मात्र है। आप जानते नहीं हैं, बस विश्वास करते हैं क्योंकि विश्वास आपको दिलासा देता है। आप मृत्यु के प्रश्न की गहराई में कभी झांकते तक नहीं, क्योंकि अंत आ जाने की, सर्वथा अज्ञात में प्रवेश करने की संकल्पना ही आपके लिये दिल दहला देने वाली है जो आपमें भय जगाती है। चूंकि आप भयभीत होते हैं, पलायन के साधनों के तौर पर तरह-तरह के विश्वासों की आप शरण ले लेते हैं।

निश्चय ही मन को भय से मुक्त करने के लिए, जब आप शारीरिक व मानसिक रूप से ऊर्जस्वी हों, कार्यालय जाने वगैरह सभी कामों पर पूरी तवज्जो दे रहे हों तभी आपके लिये यह जान लेना आवश्यक है कि मरना होता क्या है। आपको जीते जी मृत्यु की प्रकृति को जानना होगा। विश्वास आपके भय को दूर नहीं कर सकता। आप चाहे तत्सम्बंधी अनेक ग्रंथों का अध्ययन कर डालें, परंतु वह भी आपके मन को भय से मुक्त नहीं कर पायेगा क्योंकि मन को तो एक ही बात की आदत है, स्मृति के सहारे निरंतरता बनाये रखने की; इसीलिये अंत होने की संकल्पना तक से वह सिहर उठता है। वे तमाम चीज़ें जो आपने अनुभव की हैं, जिनका आपने सुख भोगा है—उनका लगातार होता

संग्रह, वह सब जो आपने हासिल किया है, वह व्यक्तित्व जो आपने विकसित कर लिया है, आपके आदर्श, आपका दर्शन, आपका ज्ञान—इस सब का अंत होना ही है। तो मन इस भय से मुक्त कैसे हो—समस्या यह है, यह नहीं कि मृत्यु के उपरांत भी निरंतरता बनी रहती है अथवा नहीं।

यदि मुझे अंत के भय से मुक्त होना है तो निश्चय ही मुझे मृत्यु की प्रकृति को समझना-बूझना होगा, मुझे उसका अनुभव करना होगा, मुझे जानना होगा कि यह है क्या, इसके सौंदर्य, इसके सघन गुणधर्म से परिचित होना होगा। मृत्यु तो एक अद्‌भुत घटना ही होगी—उसमें प्रवेश, जिसकी कभी कल्पना भी न की हो, जो पूर्णतया अज्ञात हो।

जीते जी यह मन उसका अनुभव कैसे करे जिसे मृत्यु कहते हैं—मृत्यु अर्थात् अंत। यह इस तन का भी अंत है और शायद मन का भी। मैं इस बात पर चर्चा नहीं कर रहा हूँ कि मृत्यु के उपरांत भी जीवन होता है या नहीं, यहां मेरा सरोकार अंत से है। अब, जब कि मैं जी रहा हूँ, क्या मैं अंत का स्पर्श नहीं कर सकता? क्या मेरे जीते जी ही मेरे मन का अपने तमाम विचारों, गतिविधियों और स्मृतियों सहित अवसान हो सकता है, अभी, जब कि इस शरीर का वृद्धावस्था, रोग अथवा दुर्घटना के कारण अंत नहीं हुआ है? इस मन ने एक निरंतरता रच ली है, क्या इस मन का निधन नहीं हो सकता—जीवन के अंतिम क्षणों में नहीं बल्कि इसी वक्त? तात्पर्य यह, कि क्या मन स्मृति के अपने तमाम संग्रहों से मुक्त नहीं हो सकता?

आप हिंदू हों, ईसाई हों या कुछ और, आप अतीत, परंपरा व रीति-रिवाज के सांचे में ढले हुए हैं। आप लालच भी हैं, ईर्ष्या भी, आनंद भी, सुखासक्ति भी; आप ही किसी सुंदरता की प्रशंसा हैं, प्रेम न पा सकने की और उपलब्धि, परितुष्टि तक न पहुंच पाने की व्यग्रता भी आप ही हैं—आप यह सब कुछ हैं जो कि निरंतरता की प्रक्रिया ही है। इसके किसी एक रूप को ही लें। आप अपनी संपत्ति के, अपनी पत्नी के प्रति आसक्त हैं। यह एक तथ्य है। मैं विरक्त हो जाने के लिये नहीं कह रहा हूँ। अपनी अवधारणाओं, अपने सोचने के तौर-तरीकों के प्रति आपकी आसक्ति है।

तो क्या आप इस आसक्ति का विसर्जन नहीं कर सकते? आप आसक्त हैं ही क्यों? असल प्रश्न यही है, यह नहीं कि विरक्त कैसे हुआ जाये। यदि आप विरक्त होने का प्रयास करेंगे तो आप केवल उसके विपरीत को पोषित कर रहे होंगे और इसलिये अंतर्विरोध जारी रहेगा। परंतु आपका मन जिस पल इस आसक्ति से मुक्त होता है, उसी पल यह आसक्ति के ज़रिये पोसी जा रही उस निरंतरता के भाव से भी मुक्त हो जाता है। तो आप आसक्त क्यों हैं? क्योंकि आप भयभीत हैं कि आसक्ति के बिना आप कुछ नहीं रहेंगे; 'आप ही' अपना घर हैं, 'आप ही' अपनी पत्नी हैं, 'आप ही' अपना बैंक खाता हैं, और 'आप ही' अपना कारोबार-रोजगार हैं। आप ही यह सारा कुछ हैं। परंतु यदि आसक्ति के ज़रिये जारी इस निरंतरता का अवसान हो सके, पूरी तरह से अंत हो सके, तब आप जान पायेंगे कि मृत्यु क्या होती है।

आप समझ रहे हैं न? उदाहरण के लिये, मुझमें घृणा है और इस घृणा को मैं वर्षों से ढोता आया हूँ, इससे लगातार जूझता रहा हूँ। क्या इसी क्षण मैं घृणा करना बंद कर सकता हूँ? क्या मैं मृत्यु की अंतिमता की तरह इसे छोड़ सकता हूँ?

जब मृत्यु आती है तब वह आपसे अनुमति नहीं लेती। वह आती है और आपको ले जाती है। आप जहां भी होते हैं यह वहीं आपका खात्मा कर देती है। इसी तरह घृणा, ईर्ष्या, स्वामित्वभाव के दंभ, विश्वासों, अवधारणाओं और सोचने के विशिष्ट तरीकों को क्या आप एकदम नहीं छोड़ सकते। "इसे कैसे छोड़ें?" बताने वाली कोई विधि नहीं है क्योंकि वह तो निरंतरता का ही एक और रूप होगी। अवधारणा, विश्वास, आसक्ति, लोभ अथवा ईर्ष्या को छोड़ देने का अर्थ है इनके प्रति मर जाना—प्रतिदिन, प्रतिपल। यदि सभी महत्त्वाकांक्षाओं का पल-प्रतिपल अंत होता रहे तो आपका न-कुछ होने की उस अद्‌भुत अवस्था से, एक अनादि-अनंत गतिशीलता की अथाह गहराई से परिचय होगा, और यही है मृत्यु।

मैं मृत्यु के बारे में सब कुछ जान लेना चाहता हूँ क्योंकि हो सकता है मृत्यु ही वह यथार्थ हो, जिसे हम 'ईश्वर' कहते हैं वह यही हो—वह परम अद्‌भुत तत्त्व जो जीवंत एवं गतिमान है, तो भी जिसका न कोई आदि है, न अंत। इसलिये मृत्यु के बारे में मैं सब कुछ जान लेना चाहता हूँ। इसके लिये मुझे उस सब के प्रति मरना होगा जो कुछ भी मुझे पहले से मालूम है। यह मन अज्ञात से तभी अवगत हो सकता है जब ज्ञात के प्रति इसकी मृत्यु हो जाये—मृत्यु, किसी भी हेतु के बिना, किसी प्रतिफल की कामना और दंड के भय के बिना। तभी मुझे पता लग पाएगा कि जीते जीवंत रहते मरना क्या होता है—और भय से मुक्ति इसी अन्वेषण, इसी खोज की गति में है।

यह अप्रासंगिक है कि इस देह के अवसान के बाद भी क्या कोई निरंतरता रहती है या नहीं। यह महत्त्वहीन है कि आपका पुनर्जन्म होता है या नहीं।

मेरे लिये, जीना मरने से पृथक नहीं है, क्योंकि जीने में ही मृत्यु निहित है। मृत्यु व जीवन के बीच कोई विभाजन नहीं है। हम मृत्यु को जान पाते हैं क्योंकि मन हर पल मर रहा होता है और उस अंत में ही नवीनीकरण है, नवीनता, ताज़गी और निश्छलता है, न कि निरंतरता में। परंतु हममें से अधिकांश लोगों के लिये मृत्यु एक ऐसी घटना है जिसका मन ने वस्तुतः कभी अनुभव नहीं किया है। जीते जी मृत्यु का अनुभव करने के लिये हमें मन की उन तमाम चालबाज़ियों को विसर्जित करना होगा जो हमें इसके प्रत्यक्ष अनुभव से वंचित रखती हैं।

मुझे नहीं लगता आप कभी यह समझ-बूझ पाये हैं कि प्रेम क्या होता है? क्योंकि मैं समझता हूँ कि मृत्यु और प्रेम साथ-साथ चलते हैं। मृत्यु, प्रेम और जीवन एक ही है, अलग-अलग नहीं। किंतु हमने जीवन को ऐसे ही विभाजित कर रखा है जैसे इस धरती को। हम प्रेम के कामनामय अथवा आध्यात्मिक होने की बात करते हैं जिससे इसके पावन और सांसारिक रूप के बीच चलते रहने वाली लड़ाई छिड़ी हुई है। हमने प्रेम को 'जो है' और 'जो होना चाहिये' के रूप में विभाजित किया हुआ है, लेकिन प्रेम क्या है

यह हम नहीं जानते। निश्चय ही, प्रेम तो एक ऐसा भरपूर एहसास है जिसमें भावुकता के लिए कोई स्थान नहीं होता और न ही कोई अलगाव होता है। यह तो बस भावना की परिपूर्ण पावनता है, बुद्धि के विभाजक और विखंडनकारी लक्षणों से रहित। प्रेम में निरंतरता का कोई भाव नहीं होता। यदि प्रेम में निरंतरता का भाव आने लगे तो समझ लीजिये कि वहां प्रेम दम तोड़ चुका है और उसमें अतीत की दुर्गंध आने लगी है—तमाम भौंडी स्मृतियों, झगड़ों और क्रूरताओं से भरे अतीत की। प्रेम करना है तो मरना ही होगा।

मृत्यु प्रेम है—ये दोनों पृथक नहीं हैं। मेरे इन शब्दों से सम्मोहित न हों। आप ही को इसे अनुभूत करना है, जानना है, चखना है, स्वयं इसे खोज निकालना है।

नितांत अकेला और अलग-थलग पड़ जाने और कुछ न रह जाने का भय ही हमारी आत्म-विसंगति के, अंतर्विरोध के मूल में है। चूंकि हम कुछ भी न रह जाने के प्रति भयभीत रहते हैं, अतः अनेकानेक आकांक्षाएं हमारे भीतर घमासान मचाये रखती हैं, हर आकांक्षा हमें अपनी-अपनी दिशा में खींचती-घसीटती रहती है। तो यदि मन ने समग्र कर्म को, अंतर्विरोध से मुक्त कर्म को जानना है—ऐसा कर्म जिसके चलते कार्यालय जाना भी ऐसा ही लगे जैसे कार्यालय न जाना या जैसे संन्यासी हो जाना, अथवा जैसे ध्यान लगाना, या फिर ऐसा लगे जैसे किसी सांझ आकाश को निहारना—तो भय से मुक्ति अनिवार्य है। परंतु भय से आप तब तक लेशमात्र भी मुक्त नहीं हो सकते जब तक आप भय को अनुभूत न करें, इससे गुज़रें नहीं और ऐसा तब तक नहीं हो पाता जब तक आप इससे पलायन करने के मार्ग और साधन तलाश करते रहते हैं। आपका ईश्वर भी भय से एक अनूठा पलायन ही तो है। आपके सारे रीति-रिवाज़ों, आपके ग्रंथों, आपके सिद्धांतों और विश्वासों ने आपको इससे गुज़रने नहीं दिया है, इसे अनुभूत करने से वंचित रखा है। तब आप पायेंगे कि अंत होने में ही भय का निर्मूलन संभव है—निर्मूलन अतीत का, बीते हुए का, क्योंकि यही वह माटी है जिसमें भय अपनी जड़ें जमाता है। तब आप यह खोज लेंगे कि प्रेम, मृत्यु और जीना एक ही है, ये एक दूसरे से अलग नहीं हैं। मन मुक्त तभी हो पाता है जब स्मृति का अंबार परे फेंक दिया जाये। सृजन अंतता में है, निरंतरता में नहीं। केवल तभी वह समग्र कर्म घटित होता है जो जीना भी है, प्रेम करना भी और मरना भी।

मद्रास,
9 दिसम्बर 1959

सोलह

वह इमली का पुराना वृक्ष था, फलों से लदा और नई कोंपलों से भरा। एक गहरी नदी के तट पर उगने के कारण इसे भरपूर जल मिला था। वह मनुष्यों और पशु-पक्षियों को खूब छाया देता था। उसके नीचे किसी न किसी प्रकार की चहल-पहल और शोर-शराबा बना रहता था—ऊंचे स्वर में होते वार्तालाप या अपनी मां के लिये किसी बछड़े की पुकार। उस वृक्ष का आयाम बहुत नयनाभिराम था और आकाश की नीलिमा में उभरती इसकी आकृति बहुत भव्य थी। उसमें कालजयी सजीवता थी, असंख्य ग्रीष्म ऋतुओं को झेलते हुए नदी और उसके तट पर हुई अनेकानेक घटनाओं का वह साक्षी था। वह नदी बड़ी मनमोहक थी—विस्तीर्ण और पावन। उसके पवित्र जल में डुबकी लगाने के लिये देश के सभी भागों से तीर्थयात्री आते रहते थे। गहरे रंग के चौकोर पाल वाली किश्तियां उसमें चल रही थीं—चुपचाप। अठखेलियां करते जल पर चांदी की झिलमिल दीर्घा बना हुआ लालिमायुक्त पूर्णिमा का चंद्रमा जब पूरब से निकलता है तब आस-पास के, और पार के गांव जैसे थिरक उठते हैं। पावन त्यौहारों पर ग्रामीणजन हर्षोल्लास में झूमते-गाते उसके तट पर आते हैं। वे अपना भोजन साथ ले आते हैं, खूब बतियाते हैं और हंसते-गाते उस नदी में स्नान करते हैं; फिर वे इस वृक्ष के चरणों में फूल चढ़ाते हैं, इसके तने के चारों ओर लाल-पीली रोली लगाते हैं क्योंकि यह वृक्ष पवित्र माना जाता है—अन्य वृक्षों की तरह ही। अब जब यह शोर-शराबा और गुल-गपाड़ा थम गया और सब अपने-अपने घरों को लौट गये, तब भी धर्मपरायण ग्रामीणों द्वारा प्रज्वलित कुछ दीपक यहां टिमटिमाते रहे। ये दीप मिट्टी के छोटे से दिये में तेल भरकर घर में बनी बाती से तैयार किये जाते हैं, जो उनके लिये तो महंगे ही होते हैं। और तब जैसे यह वृक्ष सर्वेसर्वा हो गया, सभी कुछ मानो इसी का हिस्सा था—यह धरती, यह नदी, ये लोग और वे तारे भी। जल्दी ही वह वृक्ष स्वयं में सिमट गया—ऊंघने के लिए, सुबह-सबेरे सूर्य की प्रथम किरण द्वारा सहलाये जाने तक।

प्रायः वे लोग इस नदी तट पर पार्थिव शरीर लाते हैं। जल के बिलकुल निकट वे पहले ज़मीन को बुहारते हैं, फिर चिता के आधारस्वरूप लकड़ी के मोटे-मोटे लठ्ठे रखते हैं और उनके ऊपर पतली-पतली लकड़ियां बैठाते हैं। इस सब के ऊपर श्वेत वस्त्र मे लिपटा पार्थिव शरीर रख दिया जाता है। तब कोई निकटतम संबंधी एक जलती लकड़ी से चिता को अग्नि देता है। चिता से उठती ऊँची-ऊँची लपटें अंधकार में उसके चारों ओर बैठे शोकसंतप्त परिजनों, मित्रों और जल को प्रकाशित करने लगती हैं। यह वृक्ष भी उस प्रकाश में से कुछ को अपना लेता है और तब अपनी नीरवता नर्तन करती अग्निशिखाओं को सौंप देता है। शरीर को राख हो जाने में कई घंटे लगते हैं, लेकिन वे लोग चारों ओर तब तक बैठे रहते हैं जब तक धधकते अंगारों और छोटी-छोटी लपलपाती लपटों के

अतिरिक्त और कुछ नहीं बचता। नितांत स्तब्धता के बीच अचानक एक शिशु रोना शुरू करता है, और एक नये दिन की शुरुआत हो जाती है।

वह काफी प्रसिद्ध व्यक्ति थे। चारदीवारी के पीछे छोटी सी एक बगिया थी जिसकी कभी बहुत सार-संभाल रही होगी परंतु अब वह उपेक्षित अवस्था में थी। उससे लगे एक छोटे से मकान में वह मृत्युशैया पर लेटे हुए थे। उनकी पत्नी, बच्चे और अन्य निकट संबंधी उनके आसपास बैठे थे। यह उनकी मृत्यु से कुछ महीने पहले या उससे पूर्व की बात है, परंतु उस समय वे सब उनके करीब थे और वह कमरा उदासी से बोझिल था। जब मैं कमरे में पहुँचा, तो उन्होंने सभी को बाहर चले जाने को कहा। वे सभी अनिच्छापूर्वक चले गये, बस एक छोटा बच्चा वहीं फर्श पर अपने खिलौनों से खेलता रहा। हम कुछ समय बिना कुछ बोले बैठे रहे; इस बीच घर और गलियारे की आवाजें कमरे में तैरती रहीं।

वह कुछ कठिनाईपूर्वक बोले, "अनेक वर्षों से मैंने जीने और इससे भी अधिक मरने के संबंध में बहुत कुछ सोचा-विचारा है, क्योंकि मुझे लंबी चलने वाली बीमारी रही। मृत्यु एक बहुत ही अजीब मसला लगता है। इस समस्या से संबंधित अनेक पुस्तकें भी मैंने पढ़ी हैं, परंतु वे सभी बड़ी उथली रही हैं।"

क्या सभी निष्कर्ष उथले नहीं होते?

"मैं यह इतना निश्चयपूर्वक नहीं कह सकता। यदि कोई व्यक्ति कुछ ऐसे निष्कर्षों पर पहुँचता है जो बहुत संतोषप्रद हों तो उनका कुछ तो महत्त्व होता ही है। यदि निष्कर्ष संतोषप्रद हैं तो उनमें गलत क्या है?"

इसमें गलत कुछ भी नहीं है, परंतु क्या यह एक भ्रामक क्षितिज की ओर नहीं ले जाता? मन के पास न जाने किस-किस तरह की भ्रांति पैदा कर लेने की क्षमता है, पर इस सब में फंस जाना तो एकदम अनावश्यक और बचकाना लगता है।

"मैंने काफी समृद्ध जीवन जिया है। मुझे जो अपना कर्तव्य प्रतीत हुआ उसे मैंने निभाया है, परंतु हूँ तो मैं एक मनुष्य ही। ठीक है, जैसा भी था, वह जीवन तो बीत चुका है। अब मैं एक बेकार की चीज़ बन कर रह गया हूँ, परंतु सौभाग्य से मेरे मन-मस्तिष्क अभी रोग के साये में नहीं हैं। मैंने काफी पढ़ा है और मैं हमेशा की तरह अभी भी आकुल हूँ यह जानने के लिये कि मृत्यु के पश्चात् क्या होता है। क्या मैं निरंतर बना रहूँगा, या इस देह का अवसान होने पर कुछ भी शेष नहीं बचेगा?"

क्या मैं पूछ सकता हूँ कि मृत्यु के बाद क्या होता है, यह जानने के लिये आप इतने उत्सुक क्यों हैं?

"क्या यह हर व्यक्ति नहीं जानना चाहता?"

हो सकता है, परंतु यदि हमें यह नहीं पता कि जीना क्या है, तो क्या कभी हम यह जान पायेंगे कि मृत्यु क्या है? हो सकता है जीना और मरना एक ही बात हो, और हमारा इन दोनों को अलग-अलग करना ही गहन दुख का स्रोत हो।

"इस विचार को आपने अपनी कुछ वार्ताओं में व्यक्त किया है, मुझे उसका

इमकान है, लेकिन फिर भी मैं जानना चाहता हूँ। क्या आप मुझे नहीं बतायेंगे कि मृत्यु के बाद होता क्या है? मैं किसी को बताऊंगा नहीं।”

आप यह जानने के लिये इतने व्यग्र क्यों हो रहे हैं? जीवन और मृत्यु के इस महासागर को जैसा वह है वैसा ही क्यों नहीं रहने देते, इसमें हस्तक्षेप क्यों कर रहे हैं?

“मै मरना नहीं चाहता” उन्होंने मेरी कलाई थामे हुए कहा, “मृत्यु से मैं हमेशा डरता रहा हूँ। यद्यपि तर्कों और विश्वासों की मदद से मैंने स्वयं को समझाने के बहुत प्रयास किए हैं, परंतु भय के इस गहरे तक पैठे संत्रास पर इससे केवल एक झीना सा आवरण ही पड़ सका है। मृत्यु के विषय में किया गया मेरा सारा स्वाध्याय इस भय से पलायन करने का, इससे बच निकलने का जतन ही रहा है। इसी कारण से, इसे जान लेने के लिये अब मैं आपसे याचना कर रहा हूँ।”

क्या कोई भी पलायन मन को भय से मुक्त कर पाता है? क्या पलायन की क्रिया ही भय पैदा नहीं करती?

“परंतु आप मुझे बता सकते हैं। आप जो कहेंगे वह सच ही होगा। वह सच मुझे मुक्त कर देगा...”

हम थोड़ी देर चुपचाप बैठे रहे। तब उन्होंने ही बात शुरू की।

“यह चुप्पी तो मेरे तमाम आकुल-व्याकुल प्रश्नों से अधिक राहत देने वाली रही। काश कि मैं इसी में रमा रहूँ और चुपचाप सिधार जाऊं। परंतु मेरा मन मुझे ऐसा नहीं करने देगा। यह शिकारी बन गया है, और शिकार भी। मैं विदीर्ण हो गया हूँ। यद्यपि मेरे शरीर में भारी पीड़ा है, परंतु मेरे मन में चल रही पीड़ा की तुलना में यह कुछ भी नहीं है। मृत्यु के उपरांत भी क्या यह जानी-पहचानी निरंतरता बनी रहती है? यह ‘मैं’, जिसने आनंद भोगे हैं, कष्ट झेले हैं, जिसने बहुत कुछ जाना है—क्या यह मन मौजूद रहेगा, बना रहेगा?”

यह ‘मैं’ है क्या, जिससे आपका मन चिपका हुआ है और जिसकी निरंतरता आप चाह रहे हैं? कृपया उत्तर मत दीजिये, बल्कि शांतिपूर्वक सुनिये। इस ‘मैं’ का अस्तित्व केवल तादात्म्य के माध्यम से रहता है—संपत्ति के साथ तादात्म्य, नाम, परिवार, सफलता-विफलता के साथ तादात्म्य, जो आप रहे हैं और होना चाहते हैं उस सब के साथ तादात्म्य। जिसके साथ भी आप अपना तादात्म्य कर लेते हैं, आप वही हो जाते हैं; आप उस सब से ही बने हैं और उसके अभाव में आप कुछ नहीं रह जाते। लोगों के साथ, संपत्ति और विचारों के साथ आपका यह तादात्म्य यानी मान ली गयी एकरूपता ही है जिसकी निरंतरता आप चाहते हैं—देहावसान के बाद भी—परंतु क्या वह एक जीवित तत्त्व होगा, अथवा हर्ष पर भारी पड़ते विषाद के साथ जुड़ी विरोधाभासी इच्छाओं, भागमभाग, तृप्तियों और कुंठाओं का एक पुंज मात्र?

“हो सकता है बात वही हो जो आप कह रहे हैं, परंतु कुछ जान लेना बिलकुल भी न जानने से तो बेहतर है।”

अज्ञात से ज्ञात बेहतर है, यही कह रहे हैं न आप? परंतु यह ज्ञात कितना लघु,

कितना क्षुद्र, कितना संकुचित है। ज्ञात दुख है, और इसी की निरंतरता के लिये आप लालायित हैं।

"मेरे बारे में सोचिये, मुझ पर दया कीजिये, कुछ न बताने की ज़िद न करिए। बस मुझे पता लग जाये, तो मैं चैन से मर पाऊंगा।"

महोदय, जानने के लिये इतना मत जूझिये। जब जानने के सभी प्रयासों पर विराम लग जाता है, तब वह विद्यमान होता है जिसे मन ने नहीं रचा-गढ़ा है। अज्ञात ज्ञात से बृहत्तर है। ज्ञात तो अज्ञात के महासागर में तैरती एक नौका भर है। सब कुछ अपने हाल पर छोड़ दें, बस जी लें।

तभी उनकी पत्नी उनके लिये कुछ पेय लेकर आई और वह बच्चा उठा और बिना हमारी ओर देखे बाहर भाग गया। कमरे से बाहर जाती अपनी पत्नी से उन्होंने किवाड़ बंद करते जाने और उस बच्चे को पुनः भीतर न आने देने को कहा।

"मैं अपने परिवार के बारे में चिंतित नहीं हूँ। उनके भविष्य का समुचित प्रबंध कर दिया गया है। मैं उद्विग्न हूँ अपने भविष्य के संदर्भ में। मेरा हृदय तो जान रहा है कि जो कुछ आप कह रहे हैं वह सच है, परंतु मेरा मन बिना सवार के एक सरपट दौड़ते घोड़े की तरह है। आप मेरी सहायता करेंगे या अब मेरी मदद हो ही नहीं सकती?"

सत्य भी विलक्षण तथ्य है, आप जितना इसके पीछे पड़ेंगे उतना ही यह आप से आँख मिचौली खेलता रहेगा। किसी भी साधन से यह आपके हाथ में नहीं आ सकता—वह साधन चाहे जितना सूक्ष्म और काइंया क्यों न हो। सत्य सोच के फंदे की पकड़ से बाहर है; थोड़ा समझें इसे, और जो हो रहा है उसे होने दें। ज़िंदगी और मौत के सफर में आपको अकेले ही चलना है। इस यात्रा में कोई जानकारी, कोई अनुभूति, कोई स्मृति आपको आश्रय नहीं देने वाली। स्वयं को सुरक्षित कर लेने की लालसा के चलते मन ने जो कुछ जुटा लिया है इसे उस सबसे खाली कर देना ज़रूरी है; इसके देवी-देवता, पुण्य-पाप उसी समाज को लौटा दिये जाने चाहियें जिसने इन्हें ईजाद किया है, पोसा है। आवश्यक है वह समग्र, अदूषित एकाकीभाव।

"अब मेरे इने-गिने दिन रह गये हैं। सांस मेरी अब गयी या तब गयी, और आप एक बड़ा मुश्किल काम करने को कह रहे हैं कि मैं यह जाने बिना मर जाऊं कि मृत्यु क्या है। परंतु मुझे संदेश मिल गया है। अब जीवन जो हो सो हो, इसी पर आशिष बरसे।"

जीवन भाष्य : तृतीय खण्ड से 'जीवन,
मृत्यु और मृत्यु के उपरांत जीवन'

सत्रह

अधिकतर लोग पौराणिक गाथाओं, प्रतीकों और मन-गढ़ंत विश्वासों के संसार में जीते हैं और ये हमारे लिये जीवन के यथार्थ से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण हो गये हैं। तमाम क्लेशों और संघर्षों से भरे इस दिन-प्रतिदिन के संसार को हम चूंकि समझ नहीं पाते हैं अतः मन-गढ़ंत विश्वासों का संसार रचकर, देवी-देवताओं, प्रतीकों, अवधारणाओं और काल्पनिक छवियों का संसार रचकर हम यथार्थ से पलायन करने का प्रयास करते हैं। जब इस यथार्थ से दिल-बहलावे की ओर पलायन किया जाता है तब सदैव विरोधाभास और दुख ही पनपता है। यदि हमें दुख से मुक्त होना है तो निश्चय ही हमें अपने विश्वासों के इस संसार को समझना होगा जिसकी ओर हम निरंतर पलायन किया करते हैं। हिंदू, मुस्लिम, बौद्ध, ईसाई—सभी ने प्रतीकों और काल्पनिक छवि वाले व दिल-बहलावे का संसार रच रखा है और सब के सब अपने-अपने संसार में उलझे हुए हैं। उनके लिये ये प्रतीक अत्यधिक महत्त्व रखते हैं और जीने की अपेक्षा ये ही अधिक मूल्यवान हो गये हैं। ये उनके अवचेतन मन की गहराई में पैठ गये हैं। किसी भी संस्कृति, सभ्यता अथवा संगठित धर्मों के अनुयायियों के जीवन में ये ही प्रबल भूमिका निभाते हैं। तो यदि हमें दुख से मुक्त होना है तो मेरे विचार से सर्वप्रथम हमें अपने दिल-बहलावे के इस मिथ्या संसार को समझना होगा जिसमें हम जीते हैं।

यदि आप किसी मार्ग पर टहलने निकलें तो आपको प्रकृति की भव्यता देखने को मिलेगी। आप हरे-भरे मैदानों और खुले आकाश का अद्‌भुत सौंदर्य देख पायेंगे। वहां आपको बच्चों की हंसी और किलकारियां भी सुनाई देंगी, परंतु इस सब के बावजूद दुख का एक एहसास भी वहां पसरा रहता है। बच्चे को गर्भ में लिए किसी महिला की वेदना है, मृत्यु का दुख है, एक वह दुख है जब आप किसी चीज़ के लिये आकुल-व्याकुल हों और वह मिले नहीं; जब किसी राष्ट्र का पतन हो जाये और विषम परिस्थितियों में उलझ जाने के कारण उसके विकास को ग्रहण लग जाये तो वह भी एक दुख है, और भ्रष्टाचार का दुख तो है ही—न केवल सामूहिक बल्कि व्यक्तिगत स्तर पर भी। यदि आप गहराई से देखें तो दुख स्वयं आपके घर में उपस्थित है—कोई उपलब्धि न कर पाने का दुख, आपकी अपनी क्षुद्रता अथवा अपनी किसी अक्षमता का दुख, और फिर अवचेतन मन के न जाने कितने और दुख।

जीवन में प्रसन्नता भी है, हँसी भी है। हँसी बहुत प्यारी चीज़ होती है—अकारण ही खुश रहना, बिना कारण ही मन का हर्षित रहना, बदले में कुछ चाहे बिना प्रेम करना। परंतु ऐसी खुशी, ऐसे खिलेपन का एहसास बहुत कम ही होता है। हम तो बस दुख से लदे रहते हैं। हमारे जीवन में क्लेश और संघर्ष का, निरंतर टूटने का एक सिलसिला बना रहता है। हम कभी यह जान ही नहीं पाते कि अपने पूरे वजूद से प्रेम करना होता क्या है।

इस दुखदर्द भरे सिलसिले को हम प्रत्येक गली में, प्रत्येक घर में और प्रत्येक मानव-मन में देख सकते हैं। हर जगह क्लेश है, पलक झपकते काफ़ूर होने वाला हर्ष-उल्लास है, धीरे-धीरे खीजता जाता मन-मस्तिष्क है, और हम इस सब से बाहर निकलने का मार्ग तलाशते रहते हैं, इस जीवन के बोझ से निजात पाने का कोई समाधान, कोई साधन या कोई पद्धति खोजते रहते हैं, और इसीलिये दुख को हम कभी वस्तुतः देख नहीं पाते। पौराणिक गाथाओं, काल्पनिक छवियों और अटकलों का दामन थामे हम बचने-भागने का प्रयास करते रहते हैं, इस बोझ को टालने की उम्मीद में रहते हैं कि वह दुख की लहर हमें छू न पाए।

मैं समझता हूँ कि इन बातों को हम सभी भली-भांति जानते हैं। मैं दुख के बारे में आपको कोई आदेश-अनुदेश देने वाला नहीं हूँ। और यहां सुनते-सुनते यदि आप दुख महसूस करने का या प्रफुल्लित हो उठने का यकायक प्रयास करेंगे तो यह बड़ी बेतुकी और बेकार की बात होगी। परंतु यदि कोई अपने ही जीवन की संकीर्णता, उथलेपन और क्षुद्रता से थोड़ा भी परिचित हो जाए, यदि वह अपनी अनवरत चलने वाली लड़ाइयों को, इनकी विफलताओं को देख ले, अपने उन तमाम प्रयत्नों पर एक निगाह डाल ले जो उसने किये तो हैं परंतु जो उसे खिन्नता के अतिरिक्त कुछ नहीं दे पाए हैं, तो निश्चित रूप से वह उसके संसर्ग-संपर्क में आता है जिसे दुख कहते हैं। दुख चाहे किसी भी स्तर पर हो, कम हो या बहुत गहरा हो, हमारे लिए यह जान लेना आवश्यक है कि दुख है क्या? दुख हमारी परछाईं की तरह हमारा पीछा करता रहता है, और हमें इसका अभी तक कोई हल नज़र नहीं आ रहा। अब यदि आपकी सहमति हो तो मैं दुख के निवारण के बारे में आपके साथ बातचीत करना चाहूँगा।

दुख का अवसान संभव है, परंतु किसी पद्धति या प्रणाली द्वारा नहीं। 'जो है' उसका प्रत्यक्ष बोध होने पर कोई दुख नहीं रहता। 'जो है' को यदि आप बिल्कुल साफ तौर पर देख सकें, तो मैं समझता हूँ कि दुख का अंत हो जाता है—चाहे वह यह तथ्य हो कि जीवन में कोई उपलब्धि नहीं है, अथवा यह तथ्य कि आपके पुत्र, भाई अथवा पिता की मृत्यु हो गई है; परंतु जब आप तथ्य को वैसा ही और यथार्थतः देखते हैं जैसा वह है—उसका कोई अर्थ निकाले बिना, उसके बारे में कोई अवधारणा बनाये बिना, उसके बारे में किसी विचार, आदर्श या निर्णय को बीच में लाये बिना, तब दुख नहीं रहता। पर हममें प्रायः भय का संकल्प, असंतोष का संकल्प, संतोष का संकल्प अपना घर बनाए रखता है।

जो कुछ कहा जा रहा है उसे सुनें भर नहीं, बल्कि स्वयं के प्रति जागरूक रहें, अपने जीवन को बिलकुल ऐसे देखें जैसे आप अपना चेहरा दर्पण में देखते हैं। दर्पण में वही दिखता है 'जो है'—अपना चेहरा बिलकुल वैसा दिखाई देता है जैसा कि वह है। आप इसी प्रकार स्वयं को देखें—किसी पसंद-नापसंद के बिना, किसी भी तरह के खंडन-मंडन के बिना। स्वयं को केवल देखें और आप पायेंगे कि भय का संकल्प ही आपके जीवन की बागडोर थामे हुए है। जब भी कोई संकल्प मौजूद होता है, चाहे वह कुछ करने

का हो, या असंतोष का, या किसी उपलब्धि का, तब उसमें हमेशा भय भी शामिल हो जाता है। भय, संकल्प और दुख साथ-साथ चलते हैं वे अलग-अलग नहीं रहते। जब भी कोई संकल्प होगा, आग्रह होगा तब वहां भय भी होगा, और भय होगा तो दुख भी होगा। 'संकल्प' से मेरा तात्पर्य है कुछ बनने का आग्रह, किसी उपलब्धि का, कुछ होने का इरादा, वह इरादा जो स्वीकारता या नकारता है। निश्चय ही, ये संकल्प विभिन्न प्रकार के होते हैं, और, जब भी कोई संकल्प उठता है तब द्वंद्व भी खड़ा हो जाता है।

इस बात को अवश्य ही ध्यान पूर्वक देखिये-समझिये। जो मैं कह रहा हूँ केवल उसी तक सीमित मत रहिये, बल्कि संकल्प में निहित क्या है इसे भी देखिये। जब तक हम संकल्प के निहितार्थ को नहीं समझ लेते तब तक दुख हमारी समझ में नहीं आयेगा।

संकल्प आकांक्षा के, इच्छा के विरोधाभास का परिणाम होता है। यह "मैं चाहता हूँ" और "मैं नहीं चाहता" के बीच की रस्साकशी से उत्पन्न होता है। भिन्न-भिन्न प्रकार की ललक अपने विरोधाभासों और प्रतिक्रियाओं के कारण संतुष्टि अथवा असंतुष्टि का संकल्प रचती हैं और उस संकल्प में भय भी विद्यमान रहता है। संकल्प कुछ पाने का, कुछ होने का, कुछ बनने का; निश्चित ही यह संकल्प ही है जो दुख को उत्पन्न करता है।

दुख का आप क्या अर्थ लगाते हैं? आप किसी बालक को देखते हैं जिसका शरीर स्वस्थ है, प्यारा सा चेहरा है, उसकी आँखों में चमक और बुद्धिमत्ता है और चेहरे पर खिली-खिली मुस्कान है। जब वह बड़ा हो जाता है तब उसे तथाकथित शिक्षा की मशीनरी में से गुज़रना होता है। उसे समाज के एक खास ढर्रे का अनुयायी बना दिया जाता है। और इस प्रकार उसके जीवन का वह उल्लास, उसके जीवन की प्रफुल्लता का सहज स्फुरण छिन्न-भिन्न कर दिया जाता है। ऐसा होते देखना दुखद होता है, है कि नहीं? जिसे हम प्रेम करते हैं ऐसे व्यक्ति का खो जाना दुखद होता है। यह जानकर दुख होता है कि जीवन की तमाम चुनौतियों का जवाब हमने बड़े तुच्छ और आधे-अधूरे ढंग से दिया है। और, क्या जीवन की इस विशाल नदी पर बना दिये गये बांध की छोटी सी तलैया में प्रेम का दम तोड़ देना दुखद नहीं है? उपलब्धियों के पीछे आपका दौड़ना और केवल खिन्नता हाथ लगना भी तो दुखद है। इस बात की वास्तविकता का बोध होना दुखद है कि यह मन कितना क्षुद्र है—किसी और का नहीं बल्कि स्वयं अपना मन। भले ही यह कितना भी ज्ञान एकत्रित कर ले, कितना ही चतुर, धूर्त या विद्वान बन जाये, यह मन रहता तब भी छिछला और खोखला ही है, और इस तथ्य का बोध भी दुख और उदासी का एहसास पैदा करता है।

परंतु इन सबसे कहीं अधिक प्रबल एक और दुख है, जो अकेलेपन और अलग-थलग पड़ जाने के एहसास से पैदा होता है। आप भले ही मित्र-मंडली में बैठे हों, किसी उत्सव-आयोजन में हों अथवा अपनी पत्नी या अपने पति से बातचीत कर रहे हों, फिर भी आपको अचानक ही एक अपार अकेलापन आ घेरता है, अकेलेपन का एक गहरा एहसास होता है जो दुख लाता है। और फिर रोग-व्याधि का दुख भी है।

हम जानते हैं कि इन तरह-तरह के दुखों का अस्तित्व है। भले ही हम इनमें से

होकर सचमुच न गुज़रे हों परंतु यदि हम सजग रूप से देखें और जीवन के प्रति सचेत रहें तो हम साफ देख पाते हैं कि इनका अस्तित्व बना ही रहता है, परंतु फिर भी अधिकतर हम लोग इन दुखों से पलायन ही करना चाहते हैं। हम दुख को समझना नहीं चाहते। इसे देखना तक नहीं चाहते। हम यह पूछते ही नहीं कि आखिर यह होता क्या है। हम तो बस उससे दूर-दूर रहने की जुगत में रहते हैं। यह अस्वाभाविक नहीं है, यह तो इच्छा की सहज गतिविधि है, परंतु हम इसे अपरिहार्य मान बैठते हैं और इसीलिए दुख के यथार्थ की अपेक्षा उससे पलायन कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण बन जाता है। दुख से पलायन करते हुए हम मिथकों और प्रतीकों में उलझ व भटक जाते हैं और इसीलिए यह जानने का कभी प्रयास तक नहीं करते कि दुख का क्या कोई अंत है भी।

फिर भी, जीवन में समस्याएं तो आती ही हैं। जीवन प्रतिपल कोई न कोई चुनौती हमारे समक्ष खड़ी कर ही देता है, हमसे कुछ न कुछ आग्रह करता ही रहता है, और हम उसकी मांग पर यदि पूरे नहीं उतर पाते हैं तो यह आधा-अधूरापन हममें खिन्नता का एहसास छोड़ जाता है। यही कारण है कि पलायन के विभिन्न तरीके हममें से ज़्यादातर लोगों के लिए बड़े महत्त्वपूर्ण हो गए हैं। हम संगठित धर्मों और विश्वासों के सहारे पलायन किया करते हैं, किसी प्रतीक, किसी छवि या प्रतिमा का दामन थाम लेते हैं—वह चाहे हमारे ही हाथों उकेरी गई हो, हमारे ही मन द्वारा गढ़ी गई हो। यदि इस जीवन में मैं अपनी समस्याओं का निदान नहीं कर पाता हूँ तो क्या हुआ, मुझे अगला जीवन तो मिलने ही वाला है। मैं यदि अपने दुख का अंत नहीं कर पाता हूँ तो किसी मनोरंजन में मगन हो सकता हूँ, या मैं यदि कोई गंभीर चित्त का व्यक्ति हुआ तो ग्रंथों में डूब जाता हूँ जिनसे ज्ञान प्राप्त कर पाऊं। पलायन करने के लिए हम भोजनभट्ट बन जाने का, बातूनी हो जाने का, लड़ने-झगड़ने का और अवसादग्रस्त हो जाने का रास्ता भी अपनाते हैं। फिर ये ही हमारे लिए न केवल महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं बल्कि इनमें से कुछ के लिए तो हम मरने-मारने पर उतर आते हैं—जैसे तुम्हारा धर्म और मेरा धर्म, तुम्हारी विचारधारा और मेरी विचारधारा, तुम्हारा रस्मों से लगाव और मेरा उनसे विरोध।

स्वयं का अवलोकन करें, मेरे शब्दों से सम्मोहित न हों। आखिर मैं जो कुछ कह रहा हूँ वह कोई कपोलकल्पित कथा नहीं है, बल्कि स्वयं आपका ही जीवन है जो आप दिन प्रतिदिन जी रहे हैं; मैं तो उसका वर्णन मात्र कर रहा हूँ, लेकिन वर्णन पर ही अटके मत रह जाइये। इस वर्णन के माध्यम से स्वयं को जानिये, तब आप देख पायेंगे कि आपका जीवन पलायन के तरह-तरह के साधनों में कितना उलझा हुआ है। इसीलिए तथ्य को देखना, 'जो है' उस पर गंभीरतापूर्वक सोचना, उसकी गवेषणा करना, उसकी गहराई में पैठना—यह सब बहुत महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि 'जो है' में न कुछ अतीत होता है न भविष्य। जो 'है' शाश्वत है, जो 'है' जीवन है, जो 'है' मृत्यु है, जो 'है' प्रेम है—इसमें न कोई उपलब्धि है, न कोई खिन्नता। ये तथ्य हैं, जीवन की वास्तविक सच्चाइयां हैं। परंतु जो मन पलायन की विभिन्न वीथिकाओं में पला-बढ़ा हो, उनके प्रभावों से लबालब भरा हुआ हो, वह जो 'है' को देख पाने में बेहद कठिनाई महसूस करता है, इसीलिए उन

प्रतीकों और पुरागाथाओं के अध्ययन करने में वह अपने अनेक वर्षों की आहुति दे देता है जिन को लेकर अनेकानेक ग्रंथ लिखे जा चुके हैं, अथवा वह किन्हीं कर्मकांडों में, या किसी प्रणाली, पद्धति, नियमाचरण आदि में स्वयं को डुबो देता है।

निश्चय ही, तथ्य का अवलोकन मायने रखता है न कि किन्हीं अवधारणाओं से चिपके रहना या उन प्रतीकों पर केवल चर्चा करते रहना जो तथ्य को दर्शाने के लिए उपयोग में लाए जाते हैं। प्रतीक तो शब्द मात्र होता है। मृत्यु शब्द को ही लीजिये। यह 'मृत्यु' शब्द एक प्रतीक है जो तथ्य के तमाम निहितार्थों को प्रकट करता है—भय, दुख, अकेलापन, खोखलापन, असहाय व अलग-थलग पड़ जाने की अवस्था, गहरी व सदा बनी रहने वाली कुंठा का व्यापक भाव। इस मृत्यु शब्द से हम सभी परिचित हैं परंतु हममें से थोड़े ही लोग इस के सच के निहितार्थों को देख पाये हैं। हम मृत्यु से दो-चार होने और उसके जो अद्‌भुत पहलू हैं उन्हें समझने का काम शायद ही कभी करते हों। परलोक में विश्वास या पुनर्जन्म के सिद्धांत से चिपके रहकर हम पलायन करना बेहतर समझते हैं। हमारे पास दिलासा देने वाली अनेक दलीले हैं, अवधारणाओं के खंडन-मंडन का और उनसे जुड़े तमाम प्रतीकों और पुरागाथाओं का सचमुच एक भरापूरा भंडार हमारे पास है। अपनी ओर निगाह मारकर देखिये तो सही। यह एक वास्तविकता है।

जहां भय रहता है वहां पलायन करने का भाव, संकल्प भी रहता है; यह भय ही है जो संकल्प को जन्म देता है। जहां महत्त्वाकांक्षा होती है वहां यह संकल्प अपना लक्ष्य पा लेने के लिये बेरहमी अख्तियार कर लेता है। जब तक अतृप्ति रहती है—तुष्टि की वह अपूर तृष्णा जिसे बुझाने की आप चाहे जितनी कोशिश कर लें, चाहे जितना खुद को भर लें, परंतु वह बनी ही रहेगी—वह अतृप्ति अपने ही संकल्प को जन्म देती है। आप या तो तृप्ति-संतुष्टि को बनाये रखना चाहते हैं या उसे बढ़ाते रहना चाहते हैं और इस तरह संतुष्टि का संकल्प अपना वजूद कायम रखता है। अपने भिन्न-भिन्न रूपों में संकल्प निश्चित तौर पर हमें कुंठा की ओर धकेलते रहते हैं, और कुंठा दुख है।

इसलिये, हमारी आँखों में या हमारे होठों पर हँसी-खुशी कभी-कभार ही आ पाती है, शांति हमारे जीवन में नाम मात्र के लिये ही रह पाती है। हम चीज़ों को शांत मन से देख सकने में स्वयं को असमर्थ पाते हैं, यह पता लगाने से चूक जाते हैं कि क्या दुख का कोई अंत भी है? हमारा कर्म हमारे विरोधाभासों से उपजता है जो हमें निरंतर तनाव में रखता है, बस हमारे अहं को पुष्ट करता रहता है और हमारी दुर्दशा को और भी बढ़ाता रहता है। आप यह सब देखते ही हैं न?

कुछ भी कहिये, आप इन बातों से बेचैन हो रहे हैं। आपके प्रतीकों, आदर्शों, आपकी पुरागाथाओं और आपके सुखभोगों को छेड़कर मैं आपको बेचैन कर रहा हूँ और बेचैन होना आप चाहते नहीं हैं, आप चाहते हैं पलायन करना। इसीलिये आप पूछते हैं, "मुझे बताइये कि दुख से 'छुटकारा' कैसे पाया जाये?" परंतु दुख से छुटकारा पाना दुख का अंत करना नहीं है। जैसे आप प्रेम का उपार्जन नहीं कर सकते, वैसे ही आप दुख से 'छुटकारा' नहीं पा सकते। प्रेम ऐसा कुछ नहीं है जिसे आप ध्यान के माध्यम से,

नियमाचरण के माध्यम से या किसी गुण का अभ्यास करके उपजा सकते हों। प्रेम को उपजाने का तो अर्थ है प्रेम को नष्ट करना। इसी प्रकार दुख का अंत संकल्प की क्रिया द्वारा संभव नहीं है। कृपया इसे समझ लीजिये। बात दुख से छुटकारा पाने की नहीं है। दुख को तो गले लगाना होता है, उसके साथ रहना, उसे समझना होता है; हमें तो दुख के साथ अंतरंग हो जाना चाहिये। परंतु आप ऐसा नहीं करते। आप कह सकते हैं "मैं दुख को जानता हूँ", लेकिन क्या इसे आप सचमुच जानते हैं? क्या आप इसके साथ रहे हैं? या फिर, दुख का एहसास होते ही आप इससे दूर भाग खड़े होते हैं? सच तो यह है कि आप दुख को जानते ही नहीं हैं। आप जानते हैं केवल इससे दूर भागना, इससे पलायन करना।

जैसे प्रेम कोई ऐसी अवस्था नहीं है जिसे किसी नियमाचरण या अनुशासन के ज़रिये उपजाया-अपनाया जा सके, ठीक वैसे ही किसी भी प्रकार के पलायन से, कर्मकांडों से, प्रतीकों से, भलाई का बीड़ा उठाकर समाज सेवा करने से, राष्ट्रवाद से या मानव द्वारा रचे गये किसी भी बेतुके उपाय से दुख का अंत नहीं किया जा सकता।

दुख को तो समझना होगा और समझ समय से बंधी नहीं होती। वह समझ तब आती है जब हर चीज़ के प्रति एक गहरा असंतोष हो, भीतर एक विस्फोट हो, एक बगावत हो। परंतु हम तो समाजसेवा में तसल्ली ढूंढ़ लेते हैं, अपनी आजीविका में, रोज़गार में डूब जाते हैं, मंदिर चले जाते हैं और किसी काल्पनिक छवि को, प्रतिमा को पूजने लगते हैं, किसी न किसी विशेष पद्धति, प्रणाली या विश्वास से चिपक जाते हैं। निश्चय ही यह सब करना आँखें मूंद लेना है, सच का, तथ्य का सामना करने से बचने का तरीका है। 'जो है' उसे सहज ही देखने से कभी दुख नहीं होता। मुझमें दंभ है, दिखावा है —इस तथ्य को सीधे-सीधे देखने से दुख कभी नहीं उपजता। परंतु ज्यों ही आप अपने 'दंभ' को 'कुछ और' में बदल देना चाहते हैं, त्यों ही संघर्ष, व्यग्रता और फसाद का तांडव शुरू हो जाता है जो अंततः दुख की ओर ले जाता है।

अगर आप किसी शै से प्रेम करते हैं तो आप सचमुच उसे देखते हैं, है न? आप यदि अपने बच्चे को प्रेम करते हैं तो उसे ध्यानपूर्वक देखते हैं, उसके सुकोमल चेहरे को, पूरी खुली आँखों को, उसके अद्‌भुत भोलेपन को निहारते हैं। जब आप किसी वृक्ष को प्रेम करते हैं तो उसे आप अपने पूरे वजूद से देखते हैं। परंतु हम कभी इस तरह नहीं देखते। मृत्यु के निहितार्थ को समझने के लिये एक तरह के विस्फोट की आवश्यकता है जो तमाम प्रणालियों को, और पुरागाथाओं के दिलासा देने वाले विश्वासों को तत्काल भस्मीभूत कर दे ताकि आप मृत्यु को उसके अपने पूरे आयाम में देख पायें। परंतु यह दुखद और दुर्भाग्यपूर्ण है कि आपने किसी भी चीज़ को कभी पूरी तरह से शायद देखा ही नहीं है। या देखा है? क्या आपने अपने बच्चे को संपूर्णतः देखा है, अपनी पूरी ऊर्जा के साथ—अर्थात् किसी भी पूर्वाग्रह के बिना, कैसा भी अनुमोदन या कैसी भी भर्त्सना किये बिना, यह महसूस किये बिना कि "यह मेरा बच्चा है।" यदि आप ऐसा कर सकते हैं तो आप देखेंगे कि इससे एक अनोखी अर्थवत्ता, एक अनोखा सौंदर्य प्रकट होता है। तब इधर

आप और उधर बच्चा नहीं रहते—ऐसा नहीं कि उस बच्चे के साथ आपका कोई असहज, बनावटी तादात्म्य होता है। जब आप किसी चीज़ को समग्र रूप से देख पाते हैं, तब तादात्म्य का सवाल नहीं रह जाता क्योंकि तब कोई पृथकता ही नहीं होती।

इसी प्रकार क्या कोई मृत्यु को संपूर्णतः देख सकता है?—जिसका अर्थ है कि डर न हो। यह पलायनोन्मुखी भय, पलायन के संकल्प वाला भय ही है जिसने इन तमाम पुरागाथाओं, प्रतीकों और विश्वासों को गढ़ लिया है। यदि आप इसे पूरी तरह से, अपने पूरे अस्तित्व के साथ देख सकें तो आप देख पायेंगे कि मृत्यु का एक बिल्कुल अलग ही अर्थ है क्योंकि तब वहाँ भय नहीं है। यह भय ही है जो यह जानने के लिये हमें उकसाता रहता है कि क्या मृत्यु के उपरांत भी निरंतरता बनी रहती है। और भय अपने ही विश्वास के आधार पर कोई उत्तर भी ढूंढ़ निकालता है कि निरंतरता 'है' या 'नहीं है'। परंतु यदि आप मृत्यु नामक इस घटना को समग्रता से देख सकें तो उसमें कोई उदासी नहीं है। यदि मेरे पुत्र की मृत्यु हो जाये तो आखिर वह क्या है जो मैं महसूस करता हूँ। मैं दुविधा और अनिश्चितता की स्थिति में पहुँच जाता हूँ। वह चला गया है—कभी लौटकर न आने के लिये। खालीपन और अकेलेपन का एक एहसास मुझे घेर लेता है। वह मेरा पुत्र था जिस पर मेरे अमरत्व की, 'मैं' और 'मेरे' के सातत्य की सारी आशाएं टिकी थीं। अब चूंकि मेरी निजी निरंतरता की यह आशा मुझसे छीन ली गई है अतः मैं गहरे अवसाद में डूब जाता हूँ। इसीलिये मैं मृत्यु को कतई पसंद नहीं करता, यह जघन्य है, एक ऐसी चीज़ है जिसे दूर धकेल दिया जाना चाहिये क्योंकि यह मुझे मेरे ही समक्ष अनावृत कर देती है। अतः विश्वास के माध्यम से, पलायन के तमाम तौर-तरीकों के ज़रिये मैं इसे परे धकेल देता हूँ। और इस प्रकार भय जारी रहता है—संकल्प उपजाते हुए, दुख को वजूद में लाते हुए।

तो यह साफ है कि इच्छाशक्ति या संकल्प के माध्यम से दुख का अवसान नहीं किया जा सकता। दुख का अवसान तो तभी हो सकता है जब उन तमाम चीज़ों से तिनका तोड़ लिया जाये जिनका मन ने पलायन करने के लिये आविष्कार कर लिया है। आप उन समस्त प्रतीकों, पुरागाथाओं, अवधारणाओं और विश्वासों को विदा होने देते हैं क्योंकि आप सचमुच यह जानना चाहते हैं कि मृत्यु क्या है, आप दुख को सचमुच समझना चाहते हैं; यह एक ज्वलंत जिज्ञासा है। तब क्या होता है? आप एक उत्कटता की अवस्था में होते हैं, न तो आप स्वीकार रहे होते हैं, न नकार रहे होते हैं, यानी आप पलायन का प्रयास नहीं कर रहे होते। आप तब तथ्य का सामना कर रहे होते हैं। और जब इस प्रकार आप मृत्यु के तथ्य से, दुख के तथ्य से दो-चार होते हैं, अपने से टकराने वाली उन तमाम चीज़ों से, स्थितियों से पल-प्रतिपल रूबरू होते हैं, तब आप देखेगें कि आप में एक विस्फोट सा होता है—विस्फोट, शनैः शनैः नहीं, समय की धीमी गति के साथ नहीं। तब मृत्यु के मायने कुछ और ही होते हैं।

मृत्यु अज्ञात है जैसे कि दुख अज्ञात है। आप दुख को सचमुच नहीं जानते, आप इसकी गहनता को, इसकी अद्भुत ऊर्जा को नहीं जानते। आप दुख के प्रति अपनी प्रतिक्रिया को तो जानते हैं परंतु दुख की क्रिया को नहीं जानते। आप मृत्यु के प्रति अपनी

प्रतिक्रिया को तो जानते हैं परंतु मृत्यु की क्रिया को नहीं जानते, उसमें क्या-क्या निहित है यह आप नहीं जानते, आप यह भी नहीं जानते कि यह सुंदर है या कुरूप है, जबकि मृत्यु और दुख की प्रकृति को, उनकी गहनता, उनके प्यारेपन और सौंदर्य को जान-समझ पाने का अर्थ है मृत्यु और दुख का अंत।

देखिये, हमारा मन ज्ञात के क्षेत्र में यंत्रवत् कार्य करता है और इसी ज्ञात के ज़रिये हम अज्ञात तक, यानी मृत्यु और दुख तक पहुँचने का उपक्रम करते हैं। क्या ऐसा हो सकता है कि एक विस्फोट हो, ताकि यह ज्ञात अज्ञात को दूषित न कर पाये। आप ज्ञात से अपना पिण्ड नहीं छुड़ा सकते—यह तो निहायत बेवकूफी की बात होगी और ऐसा प्रयास आपको कहीं नहीं ले जाएगा। असली बात है मन को ज्ञात द्वारा दूषित न होने देना। परंतु ज्ञात द्वारा मन को दूषित न होने देना किसी तयशुदा, संकल्पजनित कर्म के बस की बात नहीं। ऐसा तब होता है जब आप तथ्य को वैसा ही देखते हैं, जैसा कि वह है, और किसी भी तथ्य को—मृत्यु के तथ्य को, दुख के तथ्य को—यथावत् आप तभी देख सकते हैं जब आपका पूरा अवधान, आपकी पूरी तवज्जो इस पर रहे। संपूर्ण अवधान एकाग्रता नहीं है बल्कि यह तो संपूर्ण सजगता की वह अवस्था है जिसके दायरे में सब कुछ शामिल रहता है, कुछ भी छूटता नहीं है।

इस प्रकार, दुख का अवसान दुख का पूरी तरह से सामना करने में है अर्थात् दुख की प्रकृति को देख-समझ लेने में है, उसके प्रत्यक्ष बोध में है। इसका मतलब है अपनी सारी पुरागाथाओं को, किस्से-कहानियों को, परंपराओं और विश्वासों को जाने देना—और यह धीरे-धीरे नहीं किया जा सकता, बल्कि इसे तत्क्षण ही होना होता है, अभी। इनको छोड़ने की कोई पद्धति, कोई प्रणाली नहीं है। ये तो तभी विदा होते हैं जब आप उस बात पर अपना पूरा अवधान देते हैं जिसे आप समझना चाहते हैं—किसी भी तरह के पलायन की आकांक्षा किये बिना।

जिसे हम जीवन कहते हैं उस अद्भुत वाकये को हम केवल अंशों में, टुकड़ों में जानते हैं। दुख से हमने कभी ठीक से परिचय नहीं किया, उसे देखा है तो केवल उससे बचकर भागने की नीयत से। हमने मृत्यु के सौंदर्य को, उसकी विराटता को कभी नहीं देखा है, हम तो इसे केवल भय और शोक के माध्यम से जानते हैं। जीवन को समझा जा सकता है, मृत्यु के अर्थ और सौंदर्य को भी समझा जा सकता है, परंतु यह तभी संभव है जब मन 'जो है' का पल-पल प्रत्यक्ष बोध करता चले।

हम यद्यपि प्रेम, मृत्यु और दुख में अंतर करते हैं, पर हैं ये सभी एक ही, क्योंकि प्रेम, मृत्यु और दुख निश्चित रूप से अज्ञेय हैं, जानने की परिधि में नहीं हैं। ज्यों ही आपको लगता है कि आप प्रेम को जानते हैं, वह प्रेम नहीं रह जाता। प्रेम समय के दायरे में नहीं है—इसका न कोई आरंभ है, न कोई अंत। जबकि ज्ञान का आरंभ भी है और अंत भी। आप यदि कहते हैं, "मैं जानता हूँ कि प्रेम क्या है," तो समझ लीजिये कि आप नहीं जानते। आप केवल एक सनसनाहट, एक उद्दीपन को जानते हैं। आप प्रेम के नाम पर होने वाली प्रतिक्रिया को ही जानते हैं, परंतु वह प्रतिक्रिया प्रेम नहीं है। इसी प्रकार आप

यह नहीं जानते हैं कि मृत्यु क्या है। आप केवल मृत्यु पर अपनी प्रतिक्रियाओं को जानते हैं। आप पर मृत्यु की पूर्ण गहनता और इसके अर्थ का तभी खुलासा हो सकता है जब ये प्रतिक्रियाएं शांत हो जायें।

कृपया इसे ध्यानपूर्वक सुनिये, यह कुछ ऐसा है जिसका हर व्यक्ति के साथ गहरा सरोकार है—भले ही वह समाज के निचले पायदान पर हो अथवा सर्वोच्च पद पर। यह हममें से प्रत्येक की समस्या है और हमें इसको उसी प्रकार जान लेना चाहिए जिस प्रकार हम भूख को जानते हैं, सेक्स को जानते हैं और जिस प्रकार हम किसी वृक्ष की शीर्षस्थ पत्तियों को या खुले आकाश को देखते समय कभी-कभी होने वाली एक अनोखी अनुभूति को जानते हैं। देखिये, वैसी अनुभूति केवल तभी होती है जब मन एक प्रतिक्रियारहित अवस्था में होता है। मृत्यु को जानना ऐसी ही एक अनोखी अनुभूति है, क्योंकि मृत्यु अज्ञात है। जब तक आप मृत्यु को नहीं समझते, आप भले ही जीवन भर अज्ञात की खोज में लगे रहें, आप उसे पा नहीं सकेंगे। यह तो प्रेम की तरह है, जिसे आप जानते नहीं हैं। आप नहीं जानते कि प्रेम क्या है, आप नहीं जानते कि सत्य क्या है। प्रेम को खोजा नहीं जा सकता, सत्य को खोजा नहीं जा सकता। जब आप सत्य की 'खोज' करते हैं तब यह एक प्रतिक्रिया मात्र होती है—तथ्य से पलायन भर। सत्य तो 'जो है' में वास करता है, 'जो है' पर हो रही किसी प्रतिक्रिया में नहीं।

बम्बई,
10 जनवरी 1960

अठारह

मैं मृत्यु की चर्चा आयु और परिपक्वता, समय और निषेध के आयाम में करना चाहता हूँ —जो कि प्रेम है। परंतु इससे पहले कि मैं इस विषय में प्रवेश करूं, मैं सोचता हूँ कि हमें यह बात बिल्कुल साफ तौर पर और गहराई से समझ लेनी चाहिये कि भय किसी भी रूप में हो वह हममें विकृति लाता है, विभ्रम लाता है, और यह भी कि दुख हमारे मन को मंद-कुंद कर देता है। एक मंद-कुंद मन, एक ऐसा मन जो किसी भी प्रकार के विभ्रम में उलझा हो, उसके लिये मृत्यु के इस अद्‌भुत विषय को समझना मुमकिन नहीं। हम भ्रांति, कल्पना-विलास, पुरागाथा और भांति-भांति की कथाओं की शरण में चले जाते हैं, परंतु इस प्रकार का अपंग मन शायद ही उस वाकये को समझ सके जिसे हम मृत्यु कहते हैं, और न ही दुख के कारण शिथिल पड़ गया मन इसे समझ सकता है।

भय और दुख का प्रश्न कोई ऐसा संदर्भ नहीं है जिसके बारे में आप तत्त्वज्ञान बघारने लगें अथवा जिससे आप बच कर निकल सकें। यह तो आपकी परछाईं की तरह आपके साथ रहता है और इससे आपको सीधे-सीधे और अविलंब निपटना होता है। रोज़-ब-रोज़ इसे हम टालते नहीं रह सकते—भले ही यह दुख और भय हमें कितना भी सघन लगे। यह चेतन मन में हो या अचेतन मन में, इस दुख को, इस भय को तत्काल ही समझना होगा। समझ तुरंत आती है, यह सरकते समय के साथ नहीं आती। यह अनवरत खोजने, तलाशने, मांगने या चाहने से नहीं आती। या तो आप एक द्युति में, एक कौंध में इसे सर्वथा और संपूर्णतया देख लेते हैं या आप इसे एकदम नहीं देख पाते।

मैं उस वाकये पर चर्चा करना चाहता हूँ जिसे हम मृत्यु कहते हैं और जिससे हम सभी परिचित हैं। हम उसे देखते आए हैं, किंतु हमें उसका अनुभव नहीं है, उसके दर से गुज़रने की हमारी बारी अभी आई नहीं है। अवश्य ही वह एक अद्‌भुत अवस्था होगी। मैं इस विषय में जाना चाहता हूँ—किसी भावुकता या रोमांचकता वश नहीं, एक के बाद एक खड़े किये गए विश्वासों को ढोते हुए नहीं, बल्कि यथार्थ के स्तर पर, इसे यथातथ्य देखने-समझने के लिये, जैसे कि मैं उस आम के वृक्ष पर कांव-कांव करते कौए को देख पा रहा हूँ। परंतु किसी चीज़ को तथ्यतः समझने के लिये आपको अपना पूरा अवधान देना होगा जैसे वृक्ष पर बैठे उस बोलते पक्षी को आप सुनते हैं—इसके लिये आपको कोई परिश्रम नहीं करना पड़ता, आप उसे बस सुनते हैं। आप यह नहीं कहते कि "यह कौआ है, मैं इस कौए की कांव-कांव सुनने नहीं बल्कि अमुक व्यक्ति को सुनने आया हूँ।" फिर आप कौए को भी सुनते हैं और जो कहा जा रहा है उसे भी। परंतु आप यदि केवल इस वक्ता को सुनना चाहते हैं और उस पक्षी व उसके द्वारा किये जा रहे शोर का प्रतिरोध करते हैं तब आप न तो इस वक्ता को सुन पायेंगे और न उस पक्षी को। और मुझे लगता है कि इस जटिल व कठिन समस्या के बारे में सुनते हुए आपमें से अधिकांश लोग यही कर

रहे हैं।

हममें से अधिकतर लोग किसी बात पर अपना ध्यान पूरे दिल-औ'-जान से नहीं देते। आपने कभी किसी विचार की यात्रा उसके अंतिम छोर तक नहीं की है। किसी अवधारणा के साथ आप कभी स्वतंत्र रूप से नहीं चले हैं, कभी आपने उसके पूरे निहितार्थ को नहीं देखा है और न ही कभी उसके पार गये हैं। तो यदि आप अपना पूरा ध्यान नहीं दे पाते, यदि आप सहज-सहर्ष रूप से सुन नहीं पाते—सहज रूप से, शालीनता और प्रफुल्लता के साथ, जिसमें न कोई रोक हो और न कोई प्रयास—तो इस चर्चा में आगे बढ़ना बहुत मुश्किल होगा। हममें से अधिकांश लोगों को सुनना अपने आप में बहुत कठिन लगता है, क्योंकि जो कुछ कहा जा रहा होता है उसका हम हमेशा तर्जुमा करते रहते हैं, जो कुछ कहा जा रहा है उसे हम कभी 'सुनते' नहीं हैं।

मृत्यु एक तथ्य है—मैं इस प्रश्न पर चर्चा करना चाहूँगा—मृत्यु आपकी या मेरी नहीं, न ही ऐसे किसी व्यक्ति की जिसे आप पसंद करते हैं या जिसे आप पसंद नहीं करते—बल्कि मृत्यु की समस्या पर। आप जानते ही हैं कि हम कल्पित छवियों और प्रतीकों के साथ बुरी तरह बंधे हुए हैं। हमारे लिये प्रतीक अत्यधिक महत्त्व रखते हैं, हमें वे वास्तविकता से अधिक सच लगते हैं। जब मैं मृत्यु की बात कर रहा हूँ तो आप तत्क्षण किसी ऐसे व्यक्ति के विषय में सोचने लगते हैं जिसे उसकी मृत्यु हो जाने के कारण आप खो चुके हैं और यही बात आपको इसका सच देखने में आड़े आती है। इस प्रश्न पर मैं अलग-अलग पक्षों और पहलुओं को लेकर चर्चा करूंगा—सिर्फ यह नहीं कि मृत्यु क्या है और मृत्यु के बाद क्या होता है। ये तो एकदम बचकाने प्रश्न हैं। जब आप मृत्यु के अद्‌भुत पहलुओं को समझ लेंगे तब ऐसे प्रश्न नहीं करेंगे कि इसके बाद क्या होता है। हमें परिपक्वता पर बात करनी होगी। एक परिपक्व मन कभी नहीं पूछेगा कि क्या मृत्यु के उपरांत भी जीवन है, निरंतरता है।

हमें समझना होगा कि परिपक्व सोच होती क्या है, परिपक्वता क्या होती है और आयु क्या होती है। हममें से अधिकांश लोग जानते हैं कि आयु क्या होती है, क्योंकि हम सभी वयस्क होते जाते हैं, उम्रदराज़ होते जाते हैं—भले ही हम ऐसा चाहें या न चाहें। उम्रदराज़ होना परिपक्वता नहीं है। ज्ञान का, जानकारी का परिपक्वता से कोई संबंध नहीं। आयु में ज्ञान सम्मिलित हो सकता है परंतु परिपक्वता में नहीं। लेकिन आयु अपने संपूर्ण ज्ञान और समस्त परंपराओं के साथ जारी रह सकती है। आयु किसी शरीर के वयस्क होते जाने की, उसके निरंतर प्रयुक्त किये जाने की एक यंत्रवत् प्रक्रिया है। एक शरीर जो संघर्ष, परिश्रम, दुख व भय में अनवरत जुटा रहता है—अवयवों का एक पुंज जो इस सब में जुटा है—वह वृद्ध हो जाता है, किसी भी यंत्र की तरह। परंतु वृद्धावस्था को प्राप्त शारीरिक संरचना में परिपक्व मन ही होगा, ऐसा नहीं कहा जा सकता। हमें उम्र और परिपक्वता के बीच के अंतर को समझना होगा।

हम शिशु सी ताज़गी लिए जन्म लेते हैं, परंतु यह बड़ी-बूढ़ी होती पीढ़ी हम पर बुढ़ापा थोप देती है। यह खप चुकी पीढ़ी जो ज्ञान, ज़रा, क्षीणता, कुरूपता, दुख और भय

के चलते वयोवृद्ध हो गई है, वह यही सब कुछ बचपन पर भी थोप देती है। वे सब तो अभी से बूढ़े हो चले हैं मौत में उतरने को। समाज के पुरातन ढांचे में जकड़ी हर पीढ़ी की यही नियति होती है, परंतु समाज किसी नूतन व्यक्तित्व को, किसी नवीन अस्तित्व को चाहता ही नहीं है; यह तो व्यक्ति को बस प्रतिष्ठा के लायक बना देना चाहता है और इसीलिये उसे अपने अनुसार ढाल लेता है, उसे अपना रूप-आकार दे देता है और इस प्रकार बचपन के कोरेपन और भोलेपन को नष्ट कर देता है। यहीं नहीं, विश्व भर में बच्चों के साथ हम यही तो कर रहे हैं; बच्चा जब वयस्कता तक पहुंचता है तब तक बूढ़ा हो चुका होता है और अब उसमें परिपक्व होने की गुंजाइश नहीं रहती।

परिपक्वता समाज के लिए और उसके मनोवैज्ञानिक ढांचे के लिए वज्रपात है। जब तक आप स्वयं के प्रति पूरी तरह बेलिहाज़ नहीं होते, जब तक आप समाज से पूर्णतया मुक्त नहीं होते, तब तक आप परिपक्व नहीं हो सकते। इस सामाजिक ढांचे से, लोभ, ईर्ष्या, अधिकार-शक्ति, पद-प्रतिष्ठा, और आज्ञाकारिता से यदि आप मनोवैज्ञानिक तौर पर सर्वथा मुक्त नहीं हैं, तो आप कभी परिपक्व नहीं हो पायेंगे। आपको एक परिपक्व मन की आवश्यकता है, ऐसा मन जो अपनी परिपक्वता में स्थित, एकाकी है, ऐसा मन जिसे पंगु नहीं बनाया जा रहा, जिसे मलिन नहीं किया जा रहा और जिस पर किसी प्रकार का दबाव नहीं है—केवल ऐसा मन ही परिपक्व मन हो सकता है।

और आपको यह भी समझ लेना होगा कि परिपक्वता का समय से कोई लेना-देना नहीं है। आप समाज के जिस मनोवैज्ञानिक ढांचे में जन्मे हैं, पले-बढ़े हैं, शिक्षित हुए हैं, उसे यदि आप एकदम साफ-साफ, यथार्थ रूप में देख पाएं तो आप उससे बाहर निकल आएंगे। अतः परिपक्वता तत्क्षण आती है, उसमें समय नहीं लगता। आप शनैः शनैः परिपक्व नहीं हो सकते। यह परिपक्वता वृक्ष पर लगने वाले फल के समान नहीं है। उस फल को छाया, ताज़ी हवा, धूप और वर्षा चाहिये, वह इसी प्रक्रिया में पकता है, टूटकर गिरने के लिये तैयार। परंतु जिसकी बात हम कर रहे हैं उस परिपक्वता को पकाया नहीं जा सकता, यह परिपक्वता तो पल भर में ही घटित होती है। आप या तो परिपक्व होते हैं या परिपक्व नहीं होते हैं। इसीलिये मनोवैज्ञानिक रूप से यह देखना बहुत महत्त्वपूर्ण है कि आपका मन किस प्रकार उस समाज के ढांचे में जकड़ा हुआ है जिसमें आपका लालन-पालन हुआ है, वह समाज जिसने आपको प्रतिष्ठा दी है, वह जिसने आपको अपने अनुरूप व अनुकूल ढाल लिया है, जिसने आपको इसी की गतिविधियों के ढर्रे पर चलने के लिये बाध्य कर दिया है।

मैं समझता हूँ कि समाज के इस विषैले स्वभाव को कोई भी बिलकुल उसी तरह तुरंत देख सकता है जैसे कोई बोतल पर लगे 'विष' के लेबल को देख ले। इस तरह से देख लेने पर हम उसे कतई नहीं छूएंगे क्योंकि हम जान गये हैं कि यह खतरनाक है। परंतु आपने यह नहीं जाना है कि समाज भी एक खतरा है, यह एक परिपक्व व्यक्ति के लिये ज़ाहिरा तौर पर सर्वाधिक घातक है, क्योंकि परिपक्वता मन की वह अवस्था है जो एकाकी है, जबकि समाज का यह मनोवैज्ञानिक ढांचा आपको कभी स्वयं के साथ नहीं

रहने देता, एकाकी नहीं होने देता, बल्कि आपको कोई न कोई रूप-आकार देता रहता है—चेतन-अचेतन, दोनों ही स्तरों पर। परिपक्व मन वह है जो सर्वथा एकाकी होता है; चूंकि वह समझ चुका होता है अतः मुक्त होता है। परंतु यह मुक्ति, यह आज़ादी आती तत्क्षण ही है। आप प्रयत्न करके, तलाश करके या स्वयं को किसी नियमाचरण में बांध कर इसे प्राप्त नहीं कर सकते—और मुक्ति का सौंदर्य यही है। स्वतंत्रता विचार का परिणाम नहीं होती; विचार कभी स्वतंत्र नहीं होता, वह स्वतंत्र हो ही नहीं सकता।

यदि हम परिपक्वता की प्रकृति को समझ लें तो हम समय और निरंतरता को भी गहराई तक जान सकेंगे। हममें से अधिकांश लोगों के लिये समय एक स्वतःसिद्ध यथार्थ है। घड़ी की टिक-टिक वाला वक्त बेशक एक असलियत है—आपको अपने घर तक पहुंचने में वक्त लगता है, कोई जानकारी हासिल कर लेने में वक्त लगता है, किसी तकनीक को सीखने में वक्त लगता है, परंतु इस तरह के समय के अतिरिक्त भी क्या कोई समय होता है? क्या कोई मनोवैज्ञानिक समय भी होता है? हमने ही इस मनोवैज्ञानिक समय को रच लिया है, ऐसा समय जो अंतराल में, खालीपन में फैला रहता है, जो 'मैं' तथा मैं जो बनना चाहता हूँ' इनके बीच फैला है—'मैं' और 'मुझे जो होना चाहिये' के बीच, अतीत में जो 'मैं' था से लेकर वर्तमान में जो 'मैं' हूँ से होता हुआ जो 'मैं' होऊंगा तक। इस तरह, विचार इस मनोवैज्ञानिक समय को रचता रहता है। परंतु क्या इस तरह का कोई समय वास्तव में होता भी है? इसकी स्वयं खोजबीन करने के लिये आपको निरंतरता पर विचार करना होगा।

इस 'निरंतरता' शब्द से हमारा तात्पर्य क्या है? और इस शब्द के गहरे में क्या मायने है?—जो कि इतना प्रचलित है। आप यदि किसी बात के बारे में निरंतर सोचते रहते हैं, जैसे भोगे गये किसी विषय-सुख के बारे में आप प्रतिदिन और प्रतिपल सोचते रहते हैं तो यह सोचना उस विगत सुख को एक निरंतरता प्रदान करता है। और आप यदि किसी पीड़ाप्रद बात के बारे में सोचते रहते हैं, चाहे वह अतीत से संबधित हो या भविष्य से, तो उसमें भी निरंतरता आ जाती है। यह एक सीधी-सरल सी बात है। मैं किसी चीज़ को पसंद करता हूँ और उसके विषय में सोचता रहता हूँ तो यह सोचना ही जो घटित हुआ है उसके और उस बारे में सोचने वाले विचार के तथा वह सब फिर से घटित हो ऐसी मेरी लालसा के तथ्य के बीच एक संबंध स्थापित कर देता है। यह कोई जटिल बात नहीं है, बहुत सीधी-सरल सी बात है बशर्ते कि आप इस पर ध्यान दें। यदि आप यह नहीं समझ लेते कि निरंतरता क्या होती है तो मृत्यु के बारे में जो मैं बताने जा रहा हूँ उसे भी आप समझ नहीं पायेंगे। मैं जो कुछ भी कह रहा हूँ उसे किसी सिद्धांत अथवा विश्वास की तरह मान लेने के बजाय उसे—उसके यथार्थ को—आपको स्वयं देखना-समझना होगा।

आप यदि हर समय अपनी पत्नी, अपने घर, अपने बच्चों या अपनी नौकरी के विषय में सोच रहे हैं तो आपने निरंतरता को ही स्थापित किया है। आपमें यदि कोई दुर्भावना, कोई भय, कोई अपराध-बोध है और आप उसके बारे में अक्सर सोचते रहते हैं, अतीत से बार-बार उसे खींच कर उसका स्मरण करते रहते हैं तो निरंतरता जड़ें जमा

लेती है; हमारे मन निरंतरता के दायरे में ही काम करते हैं, हमारी सारी सोच वह निरंतरता ही तो है। हम मनोवैज्ञानिक रूप से हिंसक हैं फिर भी अहिंसा के आदर्श के बारे में सोचते रहते हैं। इस प्रकार हिंसा न करने की अपनी सोच द्वारा आप हिंसक होने की निरंतरता को ही बल दे रहे होते हैं। देखिये, इस बात को समझ लेना बहुत महत्त्वपूर्ण है। बात अपने आप में बहुत सीधी-सरल है एक बार यदि आपकी समझ में आ जाये तो : विचार, किसी भी विषय में सोचना उसे निरंतरता प्रदान करता है—भले ही वह प्रिय हो या अप्रिय, आपको सुख दे या पीड़ा दे, अतीत से जुड़ा हो अथवा आने वाले कल या आगामी सप्ताह की किसी संभावित घटना से।

तो यह विचार ही है जो कर्म में निरंतरता को स्थापित करता है—जैसे तीस या चालीस वर्षों तक आपका प्रतिदिन, प्रतिमास कार्यालय जाते रहना और अंत में आपके मन का जड़वत् हो जाना। इसी प्रकार की निरंतरता को आप अपने परिवार के संदर्भ में भी निर्मित करते रहते हैं। आप कहते हैं, "यह परिवार मेरा है;" आप इसके बारे में सोचते रहते हैं और इसे संरक्षण देने में लगे रहते हैं। आप इसके और अपने चारों ओर एक ढांचा, एक मनोवैज्ञानिक कवच निर्मित कर लेते हैं। और इस प्रकार परिवार अतिशय महत्त्वपूर्ण बन जाता है और आपका हनन हो जाता है। परिवार विनष्ट कर देने वाली सत्ता है; यह एक खतरनाक चीज़ है क्योंकि यह उसी सामाजिक ढांचे का हिस्सा है जिसने व्यक्ति को अपने अधिकार में जकड़ा हुआ है। एक बार जब मानसिक और साथ ही भौतिक निरंतरता नियत हो जाती है, वैध मान ली जाती है, तब समय बहुत महत्त्वपूर्ण हो जाता है —घड़ी वाला समय नहीं बल्कि वह समय जो किसी मानसिक-मनोवैज्ञानिक प्रयोजन को, किसी तरह के लाभ को हासिल करने अथवा सफलता पाने के साधन के रूप में मान्य है। आप तब तक सफल नहीं हो सकते, कुछ अर्जित नहीं कर सकते जब तक आप उस बारे में सोचते नहीं, अपना मन उसी में रमा नहीं लेते। इस प्रकार मनोवैज्ञानिक, आंतरिक रूप से भी निरंतरता की आकांक्षा करना समय की ही हरकत है, और समय भय को जन्म देता है। और समय के रूप में विचार मृत्यु से भय खाता है।

आपके भीतर यदि कोई समय-चक्र नहीं चल रहा है तो आपके लिये मृत्यु एक क्षण में होने वाला वाकया है न कि कोई ऐसी चीज़ जिससे भयाक्रांत रहा जाये। अर्थात दिन के किसी भी पल को विचार यदि निरंतरता न दे—न तो सुखद को न दुखद को, न उपलब्धि को न अनुपलब्धि को, न अपमान को न सम्मान को, न ही किसी ऐसी बात को जिसमें वह अटका हो—तो हर पल मृत्यु के आलिंगन का पल होगा। हमें हर पल मरना होगा— नज़री तौर पर नहीं, अस्तित्वगत रूप से। इसीलिये, इस विचार-तंत्र को समझना बहुत महत्त्वपूर्ण है। विचार केवल एक प्रत्युत्तर है, यह अतीत का प्रतिकर्म है, इसमें वैसी ठोस सच्चाई नहीं है जैसी उस वृक्ष में है जिसे आप प्रत्यक्ष, वास्तव में देख रहे हैं।

मृत्यु के अद्‌भुत अर्थ को समझने के लिये—मृत्यु का एक गौरव है, एक अर्थ है जिसकी मैं अभी चर्चा करूंगा—आपको इस निरंतरता की समस्या को समझना होगा, इसके सत्य को देखना होगा, विचार की क्रियाविधि को देखना होगा जो इस निरंतरता को

रचती रहती है।

मुझे आपका चेहरा अच्छा लगता है, मैं इसके बारे में सोचता हूँ और इस तरह निरंतरता में आपके साथ एक संबंध स्थापित कर लेता हूँ। या, मैं आपको पसंद नहीं करता और उस बारे में सोचता रहता हूँ और उसे आधार दे देता हूँ। आपको चाहे कुछ सुखद लग रहा हो या दुखद, आप यदि उसके बारे में सोचें नहीं—न आने वाले कल के बारे में, न इस बारे में कि आपको क्या मिलने वाला है, आप सफलता पाने जा रहे हैं अथवा कीर्ति या अपकीर्ति, आप यदि अपनी नेकी के विषय में, प्रतिष्ठा के विषय में लेशमात्र भी न सोचें, न इस बारे में सोचें कि लोग क्या कहेंगे या क्या नहीं कहेंगे—आप यदि इस सब के बारे में सर्वथा व पूर्णतया बेपरवाह रहते हैं तो कोई निरंतरता नहीं रहती।

मैं नहीं जानता कि आप कभी किसी भी चीज़ के प्रति लेशमात्र भी तटस्थ रह पाते हैं या नहीं। मैं चीज़ों के प्रति अभ्यस्त हो जाने की बात नहीं कर रहा हूँ। आप बंबई की बदसूरती, इसकी गलियों की गंदगी और अपनी जीवन शैली के अभ्यस्त हो गये हैं। आपको इस सब की आदत पड़ गयी है—इसका अर्थ यह नहीं हो जाता कि आप इस सब के प्रति तटस्थ हैं। किसी चीज़ का अभ्यस्त हो जाना मन को मंद-कुंद कर देता है, उसे असंवेदनशील बना देता है, परंतु तटस्थ होना, बेपरवाह होना एक बिलकुल भिन्न बात है।

तटस्थता तब आती है जब आप किसी आदत का निषेध कर देते हैं, उसे नकार देते हैं। जब आप कुछ भद्दा देखते हैं और उसके प्रति सजग रहते हैं, जब आप किसी शाम को मनोहारी आकाश को देखते हैं, उसके प्रति सजग रहते हैं, न मांग है न इनकार है, न गले लगा लेना है न परे धकेल देना है, किसी भी चीज़ के लिये अपने खिड़की-दरवाज़े बंद नहीं करने हैं और इस तरह अपने चारों ओर की प्रत्येक चीज़ के प्रति पूरी तरह भीतर से संवेदनशील रहना है—इस प्रकार जीने पर आती है वह तटस्थता, वह बेपरवाही जिसमें विलक्षण बल होता है। और जो सबल है वह नमनीय भी है, क्योंकि कोई प्रतिरोध तो है नहीं। परंतु वह मन जो केवल प्रतिरोध किया करता है, आदत में जकड़ा जाता है और इसीलिये मंद-कुंद, मूढ़ और असंवेदनशील बन जाता है।

तो जो मन बेपरवाह है, तटस्थ है उसे हमारी सभ्यता की क्षुद्रता का, हमारे विचारों के उथलेपन का, हमारे विद्रूप संबंधों का भान रहता है। वह गलियों से, वृक्ष के सौंदर्य से, सुंदर चेहरे और मुस्कुराहट से अवगत रहता है। और वह इस सब को न तो नकारता है, न स्वीकारता है, बस अवलोकन करता है—भावहीन लापरवाही से नहीं बल्कि उसी सहृदय, स्नेहिल अपक्षपात से, तटस्थता से। अवलोकन विरक्ति नहीं है क्योंकि उसमें कोई आसक्ति भी नहीं है। विरक्ति तो तभी होती है जब आसक्ति हो। जब आपका मन अपने घर-परिवार, कारोबार के प्रति आसक्त होता है तभी तो आप विरक्ति की बात करते हैं। परंतु मन जब तटस्थ होता है तब इस सब में एक मिठास आ जाती है, एक सुवास आ जाती है, विपुल ऊर्जा सम्पन्न एक विशेषता आ जाती है (तटस्थ शब्द का यह अर्थ शायद शब्दकोश में न हो)। मन का बेपरवाह होना, तटस्थ होना लाज़मी है—स्वास्थ्य के प्रति, अकेलेपन के प्रति, लोग क्या कहते हैं और क्या नहीं कहते इसके प्रति, इस बात के प्रति

भी कि हम सफल होंगे या विफल, और ऐसे ही किसी भी सत्ता अथवा मान्यता के प्रति।

आप यदि किसी को गोली चलाते सुनते हैं, बंदूक चलाकर खासा धमाका करते सुनते हैं, आप बड़ी आसानी से इस के अभ्यस्त हो सकते हैं और आप उसे सुनकर अनसुना कर दिया करेंगे—वह तटस्थता नहीं है। तटस्थता तो तब आती है जब आप उस शोर को बिना प्रतिरोध के सुनते हैं, उस शोर के साथ रहते हैं, उसके साथ अनंत दूरी की यात्रा पर निकल जाते हैं—तब वह शोर आपको प्रभावित नहीं करता, आपका ध्यान भंग नहीं करता, आपमें उपेक्षा का भाव नहीं लाता। तब आप दुनिया की हर आवाज़ को सुन पाते हैं—अपने बच्चों की आवाज़, अपनी पत्नी की आवाज़, चिड़ियों की आवाज़, राजनेताओं की चकचक का शोर—आप यह सब तटस्थ होकर पूरी तरह सुनते हैं, अतएव समझ-बूझ के साथ सुन पाते हैं।

जो मन समय और निरंतरता को समझना चाहता है उसे समय के प्रति तटस्थ, बेपरवाह होना होगा, यह नहीं कि वह उस सूनेपन को जिसे हम समय कहते हैं किसी मनोरंजन से, पूजा से, हल्ले-गुल्ले से, किताबों से, फिल्म देखने या तमाम दूसरे तौर-तरीकों से भरने की मशक्कत करने लगे—जैसा कि प्रायः हो रहा है। आप इस सूनेपन को विचार से, कार्यकलाप से, मनोरंजन से, उत्तेजना से, मदिरा से, पुरुष या स्त्री से, ईश्वर या ज्ञान से भरकर निरंतरता प्रदान करते रहे हैं और इसीलिये आप यह कभी नहीं जान पायेंगे कि मृत्यु का घटित होना होता क्या है।

देखिए, मृत्यु है विनाश। यह खेल खत्म कर देती है। आप इससे बहस नहीं कर सकते। इससे आप यह नहीं कह सकते, "नहीं, कुछ दिन और प्रतीक्षा करो।" इससे आप वाद-विवाद नहीं कर सकते, तर्क-वितर्क नहीं कर सकते। इसका होना सुनिश्चित है, यह आत्यंतिक है। हम हमेशा इससे बचना चाहते हैं और इसीलिये इससे भयाक्रांत रहते हैं। हम अवधारणाओं, प्रत्याशाओं और आशंकाओं को गढ़ते रहते हैं, विश्वासों को पाल लिया करते हैं, जैसे "हमारा पुनर्जन्म अथवा मृतोत्थान होगा"। ये सब मन की बहकाने वाली बातें हैं—एक निरंतरता की आस संजोए हुए, और वह आस समय के दायरे में ही तो होती है, तथ्य नहीं होती, मात्र विचारजनित होती है। यह समझ लीजिये कि जब मैं मृत्यु के बारे में बात कर रहा हूँ तो मैं आपकी मृत्यु या अपनी मृत्यु के बारे में नहीं हूँ बल्कि 'मृत्यु' की—उस अद्‌भुत वाकये की—चर्चा कर रहा हूँ।

एक नदी का आपके लिये अर्थ है वह नदी जिससे आप परिचित हैं, जैसे गंगा या आपके गाँव के निकट से बहती कोई नदी। जब नदी शब्द बोला जाता है तब एक नदी विशेष की छवि आपके मन में उभर कर आती है। अब यदि किसी नदी विशेष की प्रतीकात्मकता ही आपके मन में उभर कर आती रही तो आप समस्त नदियों की वास्तविकता को कभी नहीं जान पायेंगे, नहीं जान पायेंगे कि नदी सचमुच होती क्या है। नदी अर्थात् झिलमिलाता जल, मनोहारी किनारे, किनारों पर खड़े वृक्ष—यह किसी नदी विशेष का विवरण नहीं है बल्कि यह सभी नदियों का नदीपन है, यूं ही जलधारा का घुमावदार मोड़ और जल का इतराकर उछलना। जो व्यक्ति केवल एक नदी विशेष को

देखता है, उसका मन बिलकुल सीमित और उथला रहता है, परंतु जो मन नदी को एक प्रवाह के रूप में, जलराशि के रूप में देखता है—किसी देश-विशेष से जुड़ी, किसी काल विशेष से संबंधित, या किसी गांव की नदी को नहीं, बल्कि उसके सौंदर्य को देखता है—वह मन विशिष्ट की सीमा से बाहर आ जाता है।

आप यदि किसी पर्वत के बारे में सोचते हैं तो एक भारतीय होने के नाते और तमाम तथाकथित धर्म-ग्रंथों आदि के साथ पले-बढ़े होने के कारण आप शायद हिमालय की ही कल्पना करेंगे। आपके लिये पर्वत का अर्थ ही होगा हिमालय। अतः आपके मन में अविलंब इसी की छवि उभरेगी। परंतु पर्वत का अर्थ हिमालय ही नहीं होता। पर्वत तो नीले आकाश को छूती ऊँचाई है, जो किसी देश की नहीं होती, जो हिम की धवलता से आच्छादित होती है, जिसका रूप-आकार हवाओं ने, भूकंपों ने तराशा है।

जो मन पर्वतों या नदियों को किसी देश के साथ न जोड़कर उन्हें उनके विस्तार में देखता है, वह क्षुद्रता से बाहर आ जाता है, संकीर्णता में जकड़ा नहीं रह जाता। इसी तरह, जब परिवार का ज़िक्र आता है तो तुरंत आप बस अपने परिवार के बारे में सोचते हैं और तब परिवार एक खतरनाक, भयावह वाकया बन बैठता है। तभी तो आप परिवार की समस्या पर व्यापक रूप से विचार-विमर्श नहीं कर पाते क्योंकि अपने विचारों की निरंतरता के प्रवाह में आप हमेशा उसी परिवार की सोचते हैं जिससे आपका नाता है।

अतः जब हम मृत्यु की चर्चा कर रहे हैं तो हम आपकी या अपनी मृत्यु की चर्चा नहीं कर रहे हैं। इस बात का कोई महत्त्व नहीं है कि आपकी मौत होती है या मेरी। हमें मरना तो है ही, चाहे सुखी-सुखी चाहे दुखी होकर—अब चाहे हम अपने जीवन को पूरी तरह, भरपूर, हर दृष्टि से, अपने पूरे अस्तित्व के साथ स्वस्थ, जीवंतता से जीकर, प्रसन्नतापूर्वक मरें अथवा व्यथित-संतप्त लोगों की तरह बुढ़ापे से अपंग होकर, कुंठित, सुख-समृद्धि की अनुभूति से एकदम वंचित, विराटता में एक भी पल ठहरे बिना, दुख में डूबे-डूबे ही मर जायें। देखिए, मैं चर्चा कर रहा हूँ मृत्यु की, किसी खास व्यक्ति की मृत्यु की नहीं।

मृत्यु है अंत हो जाना। और हम जिससे भयभीत व आशंकित रहते हैं वह है अवसान, अंत—रोजगार का अंत, अपने परिवार से या अपने प्रेमीजन से संबंध विच्छेद हो जाना, उसका आपको छोड़कर दूर चले जाना, विचारों द्वारा सालों से पोसी गयी किसी निरंतरता का टूट जाना। तो जिस बात से आप भयभीत रहते हैं वह है अंत। मुझे नहीं मालूम कि आपने कभी सोच-समझ कर, जान-बूझ कर और अपनी मर्ज़ी से किसी चीज़ का अंत करने का सोचा है या नहीं—धूम्रपान, मदिरापान, मंदिर जाना, शक्ति-अधिकार की आकांक्षा—इनका अंत, यानी तत्क्षण छोड़ देना, जैसे शल्य चिकित्सक चाकू से कैंसर को काटकर बिल्कुल अलग कर देता है। क्या आपने कभी ऐसी चीज़ को काटकर अलग कर देने की कोशिश की है जो आपके लिए बेहद सुखद रही हो? जो चीज़ पीड़ाप्रद है उसे काटकर अलग कर देना सरल है, परंतु बिलकुल शल्यक्रिया की तरह ऐन ठीक-ठीक और पूरी करुणा के साथ किसी ऐसी चीज़ को जानबूझकर काटकर अलग कर देना सरल नहीं

है जो आपके लिये सुखदायी हो—बिना इस इल्म के कि कल क्या होगा या इसे काटकर अलग कर दिये जाने के फौरन बाद क्या होगा। आप यदि आश्वस्त होकर, यह जानते हुए कि क्या होने वाला है तब कुछ करते हैं तो आपकी क्रिया वैसी शल्यक्रिया नहीं है। लेकिन आप यदि सचमुच ऐसा कर पाते हैं तो आपको पता चल जायेगा कि मरना क्या होता है।

यदि आपने अपने अंदर हर एक चीज़ को—प्रत्येक मनोवैज्ञानिक जड़ को, आशा, हताशा, अपराध-बोध, व्यग्रता, सफलता, आसक्ति—इन सभी को काटकर अलग कर दिया है, तो इस शल्यक्रिया से, समाज की संपूर्ण संरचना को नकार देने से, बिना यह जाने कि इस शल्यक्रिया के पूरा होने के बाद आपका क्या होगा—इस पूरे नकार-इनकार में से वह ऊर्जा उभर कर आयेगी जो उसका सामना कर पाने में सक्षम है जिसे आप मृत्यु कहते हैं। आपको जो कुछ ज्ञात है उस सब से मुँह मोड़ लेना—जो कुछ आपको ज्ञात है उसे जानते-बूझते काट कर अलग कर देना—यही मरना है। इसे कभी आज़मा कर देखिये, एक सचेत, सोच-समझ कर किए गए कर्म की तरह नहीं—बस यूं ही आज़माइये, इसके साथ खेलिये क्योंकि सोचे-समझे व सचेत प्रयास की अपेक्षा आप खेल-खेल में अधिक सीखते हैं। जब आप इस प्रकार नकारते हैं तो आप ध्वस्त कर रहे होते हैं, और आपको यह ध्वंस करना ही होगा, क्योंकि उसीमें से तो प्रादुर्भाव होता है विशुद्धि का, निर्मल, अमलिन मन का।

विगत पीढ़ियों द्वारा इकट्ठी की गयी कोई भी मनोवैज्ञानिक पूंजी संभाल कर रखने लायक नहीं है। विगत पीढ़ियों द्वारा रचित इस समाज को, इस संसार को देखिये। अब यदि कोई इस संसार को और अधिक भ्रमित व दुखित करने का प्रयास करे तो वह कर ही नहीं पायेगा। अतः आपको इसे तत्काल पोंछ-पांछ कर परे फेंक देना होगा, बुहार कर किसी गर्त मे डाल देना होगा। परंतु इसे काट-छांट कर अलग कर देने के लिये, बुहार कर दूर कर देने के लिये, इसे ध्वस्त कर देने के लिये आपको समझ-बूझ की ज़रूरत है, बल्कि समझ से भी कहीं अधिक कुछ और चाहिए। इसी समझ का एक हिस्सा है करुणा।

देखिये, हममें प्रेम नहीं है। प्रेम तो केवल तब आ पाता है जब कुछ रहता ही नहीं, जब आप संसार का पूरी तरह निषेध कर देते हैं—'संसार' कहे जाने वाले इस बड़े विस्तार का नहीं, बल्कि बस अपने संसार का, उस छोटे से संसार का जिसमें आप जीते हैं—परिवार, आसक्ति, कलह, प्रभुता, सफलता, प्रत्याशा, अपराध-बोध, आज्ञाकारिता, आपके देवी-देवता, आपकी पौराणिक गाथाएं। यदि इस पूरे संसार को आप नकार देते हैं तो सचमुच कुछ शेष नहीं रहता—न कोई ईश्वर, न कोई आशा-निराशा, और कोई खोज भी नहीं—कुछ भी नहीं। तब उस विशद शून्यता में से प्रेम का प्रादुर्भाव होता है जो ऐसा अद्‌भुत यथार्थ है, ऐसा सच है, जो उस मन की माया से नहीं उपजा है जो सेक्स व कामना के माध्यम से परिवार के साथ निरंतरता बनाये रखने में लगा रहता है।

और यदि आपमें प्रेम नहीं है—जो कि वस्तुतः वह अज्ञात है—तो आप चाहे जो कर लें इस संसार की दुर्दशा में कोई तबदीली नहीं आने वाली है। यदि आप ज्ञात का पूरी तरह निषेध कर दें, अपने ज्ञान को, अपने अनुभवों को पूरी तरह नकार दें—तकनीकी

ज्ञान को नहीं बल्कि अपनी महत्त्वाकांक्षाओं, अपने अनुभवों के संग्रह, अपने परिवार को—संपूर्ण ज्ञात को पूरी तरह नकार दें, पोंछ डालें, मर जायें उस सब के प्रति, तो आप पाएंगे कि आपके मन में उस अनूठी रिक्तता का आगमन होता है, खूब सारा आकाश उसमें उपलब्ध हो जाता है। और, केवल यही वह आकाश-अवकाश है जिसमें सृजन संभव है—बच्चों का सृजन या कैनवास पर किसी चित्र का सृजन नहीं, बल्कि वह सृजन जो समग्र ऊर्जा है, अविज्ञेय है। परंतु वहां तक आने के लिये आपको उस सबसे मुँह मोड़ लेना होगा जो आपको ज्ञात है। और इसी परित्याग में, इसी मरने में है अपार सौंदर्य, अक्षय जीवन-ऊर्जा।

बंबई,
7 मार्च 1962

उन्नीस

मैं समय तथा मृत्यु के बारे में और साथ ही प्रेम के बारे में चर्चा करना चाहूँगा।

हम किन्हीं अवधारणाओं के बारे में विचार-विमर्श नहीं कर रहे हैं, अवधारणाएं तो संगठित विचार होती हैं और विचार से हमारी किसी भी मनोवैज्ञानिक समस्या का निदान नहीं हो पाता है। जिससे हमारी समस्याओं का सचमुच समाधान हो सकता है वह है उनका सामना करना, उनके रू-ब-रू होना, विचारों के माध्यम से नहीं बल्कि प्रत्यक्ष व जीवंत रूप से उनके संपर्क में आना, तथ्य को वस्तुतः देखना और महसूस करना। मैं कहना चाहूँगा कि हमें भावात्मक स्तर पर तथ्य के संपर्क में आना होगा—भावुकतावश नहीं। यदि हम विचार पर निर्भर रहेंगे तो हमारी मनोवैज्ञानिक समस्याओं का निदान कभी नहीं हो पायेगा—भले ही वह विचार कितना भी सुसंगठित, कितना भी सुविज्ञ, तर्कयुक्त, बुद्धिमत्तापूर्ण तथा औचित्यपूर्ण क्यों न हो; क्योंकि यह विचार ही तो है जो हमारी समस्त समस्याओं का रचयिता है। जो मृत्यु के विषय से दूर न भागकर वास्तव में उसमें पैठ पाते हैं वे ही जान पाते हैं कि किस प्रकार विचार समय को रचता है, और किस प्रकार यह मृत्यु के अर्थ, उसके महत्त्व और उसकी अगाधता को समझ पाने से हमें वंचित रखता है।

हममें से अधिकांश लोग मृत्यु से भयभीत रहते हैं और मृत्यु के संबंध में तर्क इकट्ठे कर या तर्कसंगत अथवा बेतुके विश्वासों से चिपके रहकर मृत्यु से पलायन करने का प्रयास करते रहते हैं—जबकि ये विश्वास भी विचार द्वारा ही गढ़े गये होते हैं। मुझे लगता है कि मृत्यु के विषय में पैठने के लिये एक ऐसे मन की आवश्यकता है जो न केवल न्यायसंगत, तर्कसंगत तथा विवेकपूर्ण हो बल्कि जो तथ्य को प्रत्यक्षतः देख पाये, जो मृत्यु को यथावत् देख पाने में समर्थ हो, बिना डर की गिरफ्त में आये।

भय को समझने के लिये समय को समझना आवश्यक है। समय से मेरा अभिप्राय घड़ी वाले वक्त से अथवा कालक्रम से नहीं है। वह तो एक सीधी-सरल बात है, वह तो यांत्रिक है अतः उसमें समझने जैसा कुछ अधिक नहीं है। मैं बात कर रहा हूँ मनोवैज्ञानिक समय की : अतीत के दिनों में झांकते रहना, उन तमाम चीज़ों को निहारते रहना जिनसे हम परिचित हैं, जिन्हें हमने महसूस किया है, भोगा है, एकत्रित किया है, अपनी स्मृति में जमा कर रखा है। अतीत का स्मरण ही हमारे वर्तमान को रूपाकार देता है और यही आगे चलकर हमारा भवितव्य बन जाता है। यह सारी प्रक्रिया ही मनोवैज्ञानिक समय है और विचार इसी की गिरफ्त में है। अतीत द्वारा वर्तमान से गुज़रते हुए भविष्य में पहुँचने की परिणति है विचार। भविष्य का विचार उस वर्तमान की संस्कारबद्धता को ढोता है जो पहले से ही अतीत द्वारा संस्कारबद्ध है।

अतीत उन बातों से निर्मित है जो चेतन मन ने स्कूल में, रोजगार के दौरान, तकनीकी ज्ञान अर्जित करते वक्त और ऐसी ही अन्य स्थितियों में सीखी हैं; यह सब स्मृति

की यांत्रिक प्रक्रिया का हिस्सा है, परंतु इस अतीत में मनोवैज्ञानिक ज्ञान भी शामिल रहता है—जैसे कि वह सब जो हमने अनुभव किया है और जमा कर रखा है, वे स्मृतियां जो हमारे अचेतन मन में कहीं गहरे में जा छिपी हैं। अधिकतर हम लोगों के पास इतना समय नहीं होता कि हम अपने अचेतन को टटोलें। हम बहुत व्यस्त रहते हैं, दैनिक कार्यकलाप से कुछ अधिक ही घिरे रहते हैं, इसलिये यह अचेतन मन सपनों के रूप में हमें विभिन्न संकेत व सूचनाएं देता रहता है, और फिर सपनों का अर्थ खोजा जाता है।

चेतन व अचेतन मन की यह तमाम प्रक्रिया ही मनोवैज्ञानिक समय है—ज्ञान के रूप में समय, अनुभव के रूप में समय, 'जो है' और 'जो होना चाहिये' के अंतराल के रूप में समय, किसी प्रयोजन को पूरा करने, सफल होने, उपलब्धि पाने, कुछ बनने के साधन के रूप में समय। चेतन मन का रूपाकार अचेतन मन द्वारा गढ़ा जाता है, परंतु अचेतन मन के गुप्त हेतुओं को, प्रयोजनों को, उसकी बाध्यताओं को समझ पाना बहुत कठिन है क्योंकि अपने चेतन मन द्वारा हम उस अचेतन में किसी भी प्रकार पैठ नहीं सकते। वैसा करने के लिए हमें निषेधात्मक तरीका अपनाना होगा, विश्लेषण की विध्यात्मक प्रक्रिया इसमें काम नहीं आयेगी। विश्लेषण करने वाला तो अपनी स्मृति द्वारा संस्कारबद्ध है, इसलिए उसके इस विधिपरक तौर-तरीके का कोई मतलब ही नहीं है क्योंकि जिसका वह विश्लेषण करना चाहता है उसकी उसे पूरी जानकारी नहीं है, उसके तमाम पहलुओं से वह अवगत नहीं है।

इसी प्रकार हमें मृत्यु से परिचय के लिये निषेधात्मक दृष्टि अपनानी होगी क्योंकि हम नहीं जानते कि यह है क्या। हमने दूसरों को मरते देखा है। हम जानते हैं कि रुग्णता, वृद्धावस्था दुर्बलता या दुर्घटना के ज़रिये मृत्यु आती है, और वह सोद्देश्य भी हो सकती है, परंतु असल में हम यह नहीं जानते कि मरने का अर्थ क्या है। हम मृत्यु की तर्कसंगत व्याख्या कर सकते हैं। वृद्धावस्था की ओर बढ़ते हुए, शनैः शनैः शक्ति क्षीण होने व स्मृति खोने जैसे लक्षणों को देखकर हम कह सकते हैं, "जीवन तो जन्म, विकास और क्षरण की एक प्रक्रिया है और इस शारीरिक तंत्र का अंत अपरिहार्य है।" परंतु यह सब हममें इस बात की गहरी समझ नहीं ला पाता कि मृत्यु क्या है।

मृत्यु का घटित होना अपने आप में कितनी अद्‌भुत बात है—बिल्कुल जीवन की ही तरह अद्‌भुत। जीवन से कुछ भी बाहर नहीं है। दुख, पीड़ा, यंत्रणा, आनंद, बेतुकी धारणाएं, स्वामित्वभाव, डाह, प्रेम, अकेलेपन के संताप का दर्द—सभी कुछ तो जीवन में समाया है। और मृत्यु को समझने के लिये हमें जीवन को इसकी समग्रता में समझना होगा, इसके किसी एक अंश को जी लेने से बात नहीं बनेगी—जैसा करने के हममें से अधिकतर लोग आदी हैं। और हां, जीवन की गहराई के स्पर्श में ही मृत्यु की समझ निहित है क्योंकि ये दोनों अलग नहीं हैं।

हम अवधारणाओं और विश्वासों पर विमर्श नहीं कर रहे हैं क्योंकि वे तो किसी भी बात का निदान नहीं करते। जो यह जानना चाहता हो कि मरने का अर्थ क्या है, जो वास्तव में इसे अनुभव करना और इसका महत्त्व जानना चाहता हो, उसे जीते जी मरना

सीखना होगा, उसे प्रतिदिन मरना होगा। शारीरिक रूप से आप प्रतिदिन नहीं मर सकते—वैसे तो आप में प्रतिपल शारीरिक परिवर्तन हो रहा है। मैं जिस मरने की बात कर रहा हूँ वह है मनोवैज्ञानिक रूप से, आंतरिक रूप से मरना—जिन बातों को हमने अनुभव के रूप में, ज्ञान के रूप में एकत्रित कर लिया है, जिन्हें हमने सुख व दुख के रूप मे जाना है—उन सबके प्रति मर जाना।

लेकिन बात यह है कि हममें से अधिकांश लोग मरना नहीं चाहते क्योंकि हम अपने जीने से संतुष्ट रहा करते हैं। पर हमारा जीवन है बहुत भौंडा, धूर्तता और ईर्ष्या से भरा, बस एक अनवरत संघर्ष। हमारा जीना तो एक आपदा है जिसमें हंसी-खुशी कभी-कभी ही जगमगाती है और फिर तुरंत स्मृति का हिस्सा हो जाती है। और हमारी मृत्यु भी एक आपदा ही है। परंतु वास्तविक मृत्यु तो उस सब के प्रति मरना है जो कुछ भी हम जानते हैं—यानी आने वाले कल का सामना करने में सक्षम होना यह जाने बिना कि आने वाला कल क्या है। यह कोई सूत्र-सिद्धांत नहीं है, और न ही कोई कपोल-कल्पित विश्वास। अधिकतर लोग मृत्यु से डरे-डरे रहते हैं अतः वे पुनर्जन्म अथवा मृतोत्थान में विश्वास करने लगते हैं या ऐसे ही किसी अन्य विश्वास से चिपके रहते हैं। परंतु जो यह वास्तव में जान लेना चाहता है कि मृत्यु क्या है उसका किसी विश्वास से कोई लेना-देना नहीं होता। बस यूं ही विश्वास कर लेना तो अपरिपक्वता है। यह जानने के लिये कि मृत्यु क्या है आपको इस बात की पहचान चाहिए कि मनौवैज्ञानिक रूप से कैसे मरें।

मुझे मालूम नहीं कि आपने कभी किसी ऐसी चीज़ के प्रति मरना चाहा है या नहीं जो आपके बहुत करीब हो और आपको भरपूर सुख दे रही हो—उसके प्रति मर जाना, किसी वजह से नहीं, किसी धारणा या प्रयोजन के चलते नहीं, अपितु बस यूं ही उस चीज़ के प्रति मर जाना, जैसे कोई पत्ती वृक्ष से टूटकर गिर जाए। आप यदि प्रतिदिन, प्रतिपल मर सकें तो आप मनौवैज्ञानिक समय के अंत को जान पायेंगे। और मुझे लगता है कि किसी ऐसे परिपक्व मन के लिये जो सचमुच गवेषणा कर रहा है, मृत्यु इस अर्थ में बहुत महत्त्वपूर्ण हो जाती है। क्योंकि खोजबीन किसी हेतु को, किसी प्रयोजन को मद्देनज़र रखकर नहीं हो सकती। यदि आप किसी प्रयोजन में अटके हैं या फिर किसी मत-सिद्धांत से बंधे हैं तो आप कैसे जान पायेंगे कि सत्य क्या है? आपको उस सब के प्रति मर जाना होगा—समाज के प्रति, संगठित धर्म के प्रति, सुरक्षित होने के उन तमाम उपायों के प्रति जिनसे यह मन चिपका हुआ है।

विश्वास और मत-सिद्धांत मनौवैज्ञानिक सुरक्षा प्रदान करते हैं। हमें दिखाई दे रहा है कि संसार एक भारी अव्यवस्था का शिकार बना हुआ है। सब जगह बवाल है, गड़बड़ी है और इस सब के चलते हम कुछ ऐसा चाहने लगते हैं जो स्थिर हो, चिरस्थायी हो। अतः हम किसी विश्वास, किसी आदर्श, किसी मत-सिद्धांत तथा मनौवैज्ञानिक सुरक्षा के किसी ढर्रे से चिपक जाते हैं, परंतु यह प्रवृत्ति हमें सचमुच यह ढूंढ़ निकाल लेने से वंचित कर देती है कि सच क्या है।

किसी नयी चीज़ का अन्वेषण करने के लिये आपको उस तक एक ऐसे सीधे-सरल

मन के साथ आना होगा जो कोरा हो, ताज़गी लिये हो और समाज द्वारा दूषित न किया गया हो। समाज तो ईर्ष्या, लोभ, महत्त्वाकांक्षा, शक्ति-अधिकार और प्रतिष्ठा का जंजाल है; अतः सच क्या है यह जानने के लिये हमें इस संपूर्ण प्रपंच के प्रति मरना होगा—केवल सैद्धांतिक, अमूर्त रूप से नहीं, बल्कि ईर्ष्या के प्रति तथा 'और-और' की चाहत के प्रति, यथार्थतः मरना होगा। जब तक यह 'और-और' की दौड़ जारी रहेगी तब तक हमें मृत्यु के व्यापक निहितार्थ का बोध नहीं हो सकेगा। हम सब जानते हैं कि देर-सबेर हम सब की देह का अंत होना ही है, समय बीता जा रहा है और मृत्यु हमें कभी भी आकर दबोच सकती है। इसी बात से भयाक्रांत रहते हुए हम कोई सिद्धांत गढ़ लेते हैं, मृत्यु के संबंध में अवधारणाओं का जमावड़ा जोड़ लेते हैं और इस सब को तर्क का जामा पहना देते हैं। परंतु यह तो मृत्यु को समझना नहीं हुआ।

मौत से आप बहसबाजी नहीं कर सकते। आप उससे एक दिन की भी मोहलत नहीं मांग सकते। वह तो परम अंतिम होती है। क्या इसी तरह से ईर्ष्या के प्रति मर जाना संभव नहीं है? बिना कोई वाद-विवाद किये, बिना यह प्रश्न किये कि यदि आप ईर्ष्या के प्रति, या महत्त्वाकांक्षा के प्रति मर गये तो कल आपका क्या होगा। वस्तुतः इसका अर्थ है : मनौवैज्ञानिक समय की संपूर्ण प्रक्रिया को समझ लेना।

हम हमेशा भविष्य की शब्दावली में सोचा करते हैं, आगामी कल की मानसिक तैयारी में लगे रहते हैं। मैं व्यावहारिक योजना बनाने के बारे में बात नहीं कर रहा हूँ, वह तो पूरी तरह से एक अलग मसला है। परंतु मनौवैज्ञानिक तौर पर हम कल-परसों कुछ बनना चाहते हैं। यह चालाक मन—जो यह था और जो यह बनने जा रहा है—इसी उधेड़-बुन में रहता है और उसीको हमने अपने जीवन की आधारशिला बना लिया है। हम अपनी ही स्मृति की परिणति हैं—स्मृति जो कि मनौवैज्ञानिक समय है। तो क्या इस संपूर्ण प्रक्रिया के प्रति मृत होना संभव है—वह भी बिना आयास के, बिल्कुल सहजता से?

आप सभी किसी भी ऐसी चीज़ से मुँह मोड़ लेना, उसके प्रति मर जाना चाहेंगे जो आपके लिए पीड़ाप्रद है और ऐसा करने में कोई मुश्किल नहीं होगी। परंतु मैं किसी ऐसी चीज़ के प्रति मर जाने की बात कर रहा हूँ जो आपके लिए बहुत सुखद हो, जो आपको आंतरिक प्रचुरता का, आंतरिक समृद्धि का एहसास देती हो। यदि आप अपने किसी उत्तेजक अनुभव, किसी दिवा-स्वप्न, किसी प्रत्याशा या उपलब्धि के तईं मर जाते हैं तो आपका सामना अकेलेपन के एक ज़बरदस्त एहसास से होता है और आपके पास कुछ ऐसा नहीं होता जिस पर आप निर्भर कर सकें। ये गिरजाघर, ये ग्रंथ, ये शिक्षक और भांति-भांति के दर्शन—किसी पर भी आप भरोसा नहीं कर सकते। और यह अच्छा ही है क्योंकि इनमें से किसी पर यदि आपका विश्वास बना रहे तो भी आपका डर तो जाने वाला है नहीं, आप तब भी ईर्ष्यालु, लोभी, महत्त्वाकांक्षी और सत्ता-लोलुप ही बने रहेंगे।

पर यह दुर्भाग्य की बात है कि जब हम हर चीज़ पर विश्वास खो बैठते हैं तो आम तौर पर हम कटु, दोषदर्शी और सतही बन जाते हैं और तब हम बस दिन दिन जिये जाते हैं यह कहते हुए कि ठीक है, काफी है। लेकिन यह मन चाहे जितना कांइयां या

फलसफेबाज क्यों न हो हमारे जीवन को निहायत छिछला और थोथा बना छोड़ता है।

मुझे नहीं मालूम कि आपने कभी इसे आज़मा कर देखा है, इसके साथ प्रयोग किया है : हर उस चीज़ के प्रति जिसे आप जानते हैं बिना आयास के मर जाना—सतही तौर पर नहीं बल्कि असलियत में, बिना यह सवाल उठाये कि कल क्या होगा। आप यदि ऐसा कर पाते हैं तो आपको अकेलेपन का एक बड़ा तीखा एहसास होगा—रीतेपन की एक अवस्था जिसमें कल है ही नहीं—और अगर आप इस से होकर गुज़र सके तो आप पाएंगे कि यह कोई वीरान हताशा नहीं है। बल्कि बात इसके ठीक उलट है!

आखिरकार, हममें से अधिकतर लोग बेहद अकेले हैं। हो सकता है आपका व्यवसाय रुचिकर हो, आपका परिवार हो, आपके पास विपुल धन हो, व्यापक ज्ञान से परिपूर्ण मेधावी मन हो, परंतु यह सब यदि आप एक तरफ हटा दें और आप के पास सिर्फ अपना साथ हो, तब आपका अकेलेपन के इस असाधारण एहसास से परिचय होगा।

पर होता यह है, ऐसे पल में हम एकदम भयभीत हो उठते हैं। हम कभी उस अकेलेपन का सामना नहीं करते, हम उस सूनेपन से पूरी तरह कभी नहीं गुज़रते यह जानने के लिए कि वह है क्या, बल्कि हम रेडियो 'ऑन' कर लेते हैं, कोई पुस्तक पढ़ने लगते हैं, मित्रों से गपशप करने लगते हैं, चर्च, मंदिर या सिनेमा चले जाते हैं, मदिरापान कर लेते हैं—ये सब एक ही किस्म के सिलसिले हैं क्योंकि ये सारे पलायन के साधन ही हैं। ईश्वर एक मज़े का पलायन है—वैसे ही जैसे मदिरा। मन जब पलायन कर रहा हो, किसी स्थिति विशेष से भाग रहा हो तो मंदिर और मयखाने में कोई खास फर्क़ नहीं रह जाता। शारीरिक रूप से मदिरा शायद कोई अच्छी चीज़ नहीं है, परंतु ईश्वर में पलायन करने के अपने खतरे हैं।

तो मृत्यु को समझने के लिये—विचार या सिद्धांत के स्तर पर नहीं बल्कि वस्तुतः इसका अनुभव करने के लिये—हमें बीते हुए कल से मुँह मोड़ लेना होगा, अपनी समस्त स्मृतियों, मानसिक आघातों, प्रशंसाओं-अपमानों, अपनी क्षुद्रताओं व ईर्ष्याओं—इन सब के प्रति हमें मर जाना होगा जिसके मानी हैं स्वयं के प्रति मर जाना, क्योंकि इस सब से ही तो हमारा आपा बना है। और यदि आप इतनी दूर तक आगे बढ़ पायें तो वहां आपको एकलापन मिलेगा जो अकेलापन नहीं होगा। एकलापन और अकेलापन दो भिन्न बातें हैं। परंतु आप एकलेपन तक पहुँच ही नहीं सकते जब तक आप अकेलेपन की उस अवस्था से पूरी तरह न गुजरें और उसे समझ न लें—अकेलापन जिसमें सबंधों का, अपनी पत्नी या अपने पति, अपने पुत्र-पुत्री, मित्र व रोजगार के साथ आपके संबंध, इनमें से किसी का भी कुछ अर्थ नहीं रह जाता, जब आप पूरी तरह अकेले हो जाते हैं। आपमें से कुछ ने इस अवस्था का अवश्य अनुभव किया होगा। जब आप इस अवस्था में से गुज़र पाते हैं, इसे पार कर लेते हैं, जब आप इस 'अकेलेपन' शब्द से बिल्कुल नहीं डरते, जब आप उन तमाम चीज़ों के प्रति मर चुके होते हैं जिन्हें आप जानते हैं और जब समाज आपको प्रभावित नहीं कर पाता है, तब आप उस अन्य को जान पाते हैं। समाज आपको तभी

तक प्रभावित कर पाता है जब तक आप मनौवैज्ञानिक रूप से इसकी गिरफ्त में हैं। इसके साथ जिस पल आप अपनी मनौवैज्ञानिक गांठ खोल देते हैं उसी पल से आप पर इसका कैसा भी प्रभाव पड़ना बंद हो जाता है। तब आप सामाजिक नैतिकता व प्रतिष्ठा के चंगुल से छूट जाते हैं। परंतु अकेलेपन को बींधने के लिये कोई पलायन किये बिना, लफ़्ज़ों में रोना रोये बिना यानी अकेलेपन के साथ पूरी तरह से जीने के लिये बहुत ऊर्जा चाहिये। काजल की कोठरी में रहते हुए भी काजल से दागदार न हों इस के लिये वैसी ही सामर्थ्य, वैसी ही ऊर्जा चाहिये जैसी कि सुंदर-सुखद स्थिति में रहते हुए भी उसका आदी न हो जाने के लिये। यही निर्दोष ऊर्जा वह एकाकी भाव है, वह एकलापन है जिस तक आपको आना है।

और इस निषेध, इस समग्र रिक्तता में ही सर्जन संभव है।

निश्चय ही, समस्त सर्जन रिक्तता में ही घटित होता है न कि तब जब मन शब्दों-चित्रों से भरा हुआ हो। मृत्यु की सार्थकता तभी है जब आप अपनी सारी अहम्मन्यताओं, आडंबरों तथा अनेकानेक स्मृतियों के प्रति मर जायें। तब वह विद्यमान होता है जो समय से परे है, कुछ ऐसा जिस तक आप तब तक नहीं आ सकते जब तक आपमें भय है, जब तक आप विश्वासों से चिपके हैं, दुख के पाश में आबद्ध हैं।

लंदन,
12 जून 1962

यदि आपको बौद्धिक-सैद्धांतिक स्तर पर नहीं बल्कि वास्तविक रूप में मृत्यु की समस्या में पैठना है तो विनम्रता आवश्यक है। मैं इस 'विनम्रता' शब्द को उस सद्गुण के अर्थ में प्रयुक्त नहीं कर रहा जिसका जामा घमंडी और दंभी लोग पहन लिया करते हैं, बल्कि मैं मन की उस स्वाभाविक अवस्था की बात कर रहा हूँ जो तब आती है जब आप वास्तव में खोज रहे होते हैं, खुद से सच्चाई का पता लगा रहे होते हैं; क्योंकि सद्गुण समय की परिधि में नहीं पनपता। यह तो वह पुष्प है जो स्वतः अस्तित्व में आता है। सद्गुण को तलाशना या उपजाना नहीं पड़ता। यदि आप कुछ भी ऐसा करते हैं तो वह सद्गुण नहीं होगा। नेकी का अभ्यास नेकी नहीं है, इस सच को देखने के लिये ऐसे मन की दरकार है जो विनम्र हो, क्योंकि विनम्रता के बिना आप सीख ही नहीं सकते। मैं 'सीखना' शब्द का प्रयोग संचय के अर्थ में नहीं कर रहा जो कि जानकारी है। मैं इस 'सीखना' शब्द का प्रयोग उस मन के संदर्भ में कर रहा हूँ जो कुछ चाह नहीं रहा है, जो किसी हेतु या प्रयोजन के पीछे नहीं पड़ा है, बल्कि जो नम्य है, तत्पर है और तत्काल यह देख पाने में सक्षम है कि सत्य क्या है। यह सब कर पाने के लिये एक ऐसी विलक्षण विनम्रता चाहिये जिसमें विशुद्ध अवलोकन की सादगी का, तपस्विता का गुण विशेष विद्यमान हो। तपस्विता जिससे हम परिचित हैं कठोर व निर्मम होती है, इसमें संकीर्णता, कट्टरता, दुराग्रह और हठधर्मिता आ जाया करती है—पर वह तो तपस्विता नहीं है। हम तपस्विता शब्द का प्रयोग इस अर्थ में कर रहे हैं कि वह मन जिसने अवलोकन किया है, जिसने देखा है कि सच क्या है, और इसी अवलोकन के चलते वह स्वातंत्र्य की ऐसी अवस्था में है जहां उस अनुशासन का आगमन होता है जो तपस्विता है, सादगी है।

विनम्रता के साथ-साथ यही तपस्विता चाहिये, और इसी स्तर पर हम परस्पर चर्चा, सहसंवाद करने जा रहे हैं। आप वक्ता से कुछ सीखने नहीं जा रहे हैं। यदि आप ऐसा करते हैं तब तो वह एक मान्यता प्राप्त व्यक्ति बन बैठेगा और तब आप वह अवलोकनकर्ता नहीं रह जायेंगे जिसमें सच क्या है यह जानने के लिये और जो सच नहीं है उसे हटा देने के लिये गंभीर जिज्ञासा है। उस हाल में तो आप बस एक अनुयायी बनकर रह जायेंगे और कोई भी अनुयायी यह कभी नहीं जान पाता कि सत्य क्या है। सत्य का तो पल प्रतिपल पता लगाना होता है और आपको स्वयं ही यह खोज करनी होती है, किसी शाब्दिक विवरण के अनुसरण मात्र से बात नहीं बनती। अपने समूचे अस्तित्व के साथ आपको इसका पता लगाना होता है और इसके लिये आपको विनम्रता की दरकार होती है।

संसार का और स्वयं का अवलोकन करने पर जो कुछ दीख पड़ता है उसका एक पहलू है मन की एक अजीबोगरीब अवस्था जो निरंतर पतन की ओर, अवनति की ओर

जा रही है। मैं नहीं जानता कि आपने अपने मन का स्वयं कभी अवलोकन किया है या नहीं—किसी सिद्धांत, किसी निर्धारित सूत्र के आधार पर नहीं और न ही सफलता तथा विफलता की शब्दावली के दायरे में, बल्कि मन के उस गुण के साथ जो कि बिना किसी अभिमत के, बिना किसी विचार के यह देखने में कि सत्य क्या है अपनी क्षमता, स्पष्टता और सामर्थ्य कायम रख सकें। हम केवल दूसरों की मनःस्थिति को ही नहीं देखते बल्कि स्वयं अपने मन का भी अवलोकन करते हैं और देख पाते हैं कि शनैः शनैः एक अवनति हो रही है, ऐसा नहीं है कि हम किसी ऊंचाई तक पहुंच गये थे आर अब नीचे की ओर जा रहे हैं; हम पाते हैं कि हममें वह पैनापन, स्पष्टता, ऊर्जा और सटीकता नहीं है जो अवलोकन के लिये, भावुकतारहित सुविवेचित अवलोकन के लिये आवश्यक है। प्रायः हम लोग मंद-कुंद हैं, और दिलासा देने वाले विश्वासों में, किसी रोजगार में, पद-प्रतिष्ठा में, परिवार को पालने में ही निमग्न हैं, हम सुरक्षा के अंधियारे में जी रहे हैं। जब हम स्वयं अपने मन का अवलोकन करना शुरू करते हैं तब देख पाते हैं कि उम्र के साथ-साथ शारीरिक संरचना के हिस्से के रूप में किस तरह मन का धीरे-धीरे ह्रास होने लगता है। इस विघटन को, इस ह्रास को हम स्वीकार कर लेते हैं, पर हमारा ध्यान इस पर नहीं जाता। और जब हमारा ध्यान इस पर जाता है तो एक भारी द्वंद्व उठ खड़ा होता है—कैसे इस मन को संभाला जाये जिसका क्षरण हो रहा है, जो पतन की ओर जा रहा है? हमने शायद स्वयं से यह प्रश्न कभी पूछा ही नहीं है कि मन का क्षरण क्या ज़रूरी है, क्या यह होना ही है। शायद यह प्रश्न हमने कभी पूछा ही नहीं, स्वयं यह जानने के लिए कि इस पतन, इस क्षरण को रोकना संभव है क्या।

आखिरकार, मन का क्षरण, संवेदनशीलता का ह्रास, तमाम अवलोकन का कुंद पड़ जाना—असल में यह मौत है, है न? तो क्या हमारे लिए यह ज़रूरी नहीं है कि हम खुद पता लगाएं कि क्या मन की उस गुणवत्ता को हर हाल में कायम रखना संभव है जो क्षरण जानती ही नहीं? मैं मन शब्द के प्रयोग में मस्तिष्क को भी शामिल कर रहा हूँ—समग्रता में—जिसमें बात उस क्षमता तक सीमित नहीं है जिससे तकनीकी जानकारी अर्जित की जाती है और उसका प्रयोग करते-करते हम बाकी जीवन बिता डालते हैं और फिर मर-खप जाते हैं। मैं 'मन' शब्द को केवल चेतन मन के अर्थ में ही नहीं बल्कि उस अचेतन मन के लिए भी प्रयोग कर रहा हूँ जिसमें मस्तिष्क सम्मिलित है—अपनी तमाम प्रतिक्रियाओं सहित; वह मस्तिष्क जो सोचता है, क्रियाएं करता है, चिड़चिड़ा हो उठता है, और जो स्नायु-तंत्र की किसी भी ऐंठ पर प्रतिक्रिया करता है। हमें दिखाई पड़ता है कि उम्र के साथ-साथ इसका क्षरण शुरू हो जाता है। वयोवृद्ध लोगों को देखिये, तमाम बूढ़े राजनेताओं को देखिये, और देखिये युवा लोगों को भी, वे किस प्रकार किसी खास विचार के खांचे में अटकना और फिर उस खांचे में ही अटके रहकर जीवन बिता देना चाहते हैं।

तो मुझे लगता है कि स्वयं यह खोजना बहुत महत्त्वपूर्ण है कि क्या यह संभव है कि अवलोकन की यह स्पष्टता कायम रहे—नज़री तौर पर नहीं बल्कि असलियत में—यानी जीवंत वर्तमान, गतिशील वर्तमान में। 'वर्तमान' शब्द का प्रयोग मैं उस समय के संदर्भ में

नहीं कर रहा हूँ जिसमें बीता हुआ कल, आने वाला कल अथवा आज शामिल है। गतिशील वर्तमान सदा-सर्वदा वर्तमान ही रहता है, उसका न कोई बीता हुआ कल होता है और न ही आने वाला कल। आप यह न समझ बैठें कि कल आपके पास यह सक्रिय और जीवंत ऊर्जा होगी। आपको अपनी तमाम क्षमताओं के साथ—केवल तकनीकी क्षमताओं के साथ ही नहीं बल्कि सौंदर्यबोध की अपनी पूरी क्षमता, समूचे स्नेह, दुख, दुर्दशा, खिन्नता महत्त्वाकांक्षा, विफलता, हताशा और संताप—इन सबके साथ गतिशील वर्तमान के प्रति सजग रहना है। क्या यह संभव है कि हम इस सब के प्रति सजग रहें और अवलोकन की स्पष्टता, उज्ज्वलता और अन्वेषण की निर्दोषता कायम रहे? यदि यह संभव नहीं हो पाता है तो फिर हम कुछ भी करते रहें उसकी कोई सार्थकता नहीं है, वह सब यांत्रिक हो जाता है।

कृपया अपने मन का अवलोकन करते चलिये। आप वक्ता को सुनने में ही नहीं लगे हैं। वक्ता के शब्दों में उलझिए मत। वह तो महज़ वर्णन कर रहा है परंतु वह वर्णन तथ्य नहीं है। शब्द वास्तविकता नहीं होता, 'वृक्ष' शब्द तथ्य नहीं है, तथ्य तो वृक्ष ही है। अगर आप वृक्ष का अवलोकन करना चाहें तो शब्द की भूमिका उसमें नगण्य है।

मैं एक आधारभूत प्रश्न उठा रहा हूँ और आपको छानबीन करनी है, इसके सत्य का पता लगाना है। प्रश्न है : क्या ऐसा हो सकता है कि मन कभी अपनी स्पष्टता, अपनी तर्कक्षमता न खोये—किसी पूर्वाग्रह, किसी फितूर, राय या जानकारी के अनुसार नहीं—और मन स्वयं को एक स्वस्थ अवस्था में बनाये रख सके, इसमें कहीं कोई अंधेरे, अबूझ और सड़ांध-भरे कोने न हों? क्या यह मुमकिन है? यह पता लगाने के लिये हमें इस क्षरण के कारणों से अवगत होना होगा। मैं इस 'कारण' शब्द का प्रयोग केवल उस स्रोत को इंगित करने के लिये कर रहा हूँ जो मन के मंद-कुंद होने के लिए ज़िम्मेदार हैं। कारण भर ढूंढ़ लेने से आप मन को मुक्त नहीं कर पाएंगे। आप अपने किसी रोग का कारण ढूंढ़ सकते हैं परंतु आपको उस बारे में कुछ करना होगा, आपको चिकित्सक के पास जाना होगा, हो सकता है आपको शल्यचिकित्सा करानी पड़े; आपको कुछ करना पड़ेगा। परंतु हममें से अधिकतर लोग मानते हैं कि कारण ढूंढ़ लेने मात्र से हमने पूरे मसले का हल निकाल लिया। और इस प्रकार उस सब की पुनरावृत्ति चलती रहती है। यही दुहराव ह्रास के, पतन के कारकों में से एक है—दुहराव का सिलसिला, आदतों का पड़ना और फिर उन्हीं आदतों में कैद होकर जीना। तो मात्र कारण की पहचान मन को क्षरण से मुक्त नहीं करने वाली।

इस गिरावट के प्रमुख कारकों में से एक है—अनुकरण, मानसिक अनुकरण—यहां बात किसी खास कमीज या कोट को पहनने, कार्यालय जाने, किसी तकनीक को सीखने में जो अनुकरण होता है उसकी नहीं हो रही, वह तो एकदम सतही मामला है। बात मन के यांत्रिक व्यवहार की है जिसके चलते आदतें निर्मित होती हैं और फिर मन विश्वासों, रूढ़ियों और मत-सिद्धांतों के ढर्रे में काम करने लगता है।

आप ज़रा गौर से देखें तो पायेंगे कि आपका मन किस कदर आदतों में जीता है,

आदतों में अपने कार्यकलाप करता है। यह सब आदतन इसलिये करता है क्योंकि अपने आप को सुरक्षित, महफ़ूज़ न रख पाने का डर इसमें बना रहता है। अतः गिरावट के वास्तविक कारकों में से एक है भय—मनौवैज्ञानिक भय, न कि सर्प द्वारा काट लिये जाने का सहज-स्वाभाविक भय और तदनुसार स्वयं के बचाव का कर्म, वह एक अलग बात है।

हमारी समस्याओं में से एक यह है कि हम सदैव सुगम प्रश्न पूछते हैं और सुगम उत्तरों से संतुष्ट हो जाते हैं। आप सादगी का मामला ही लीजिये—'सादा जीवन'। इसके लिये हमारा त्वरित और एकदम सीधा-सपाट, लचर व घिसा-पिटा कथन होता है : आपको केवल दो जोड़ी कपड़े रखना और एक समय खाना चाहिये, तभी आप नितांत सादे व्यक्ति माने जायेंगे। परंतु यह तो सादगी है ही नहीं—यह तो दिखावा करना और सादगी के बारे में परंपरा द्वारा अनुमोदित एक शैली पर चलना है। सादगी का अर्थ है एक ऐसे मन का होना जो स्पष्ट हो, उज्ज्वल हो, द्वंद्वरहित हो, जिसकी कोई महत्त्वाकांक्षा न हो और जो वस्तुतः अपनी ही इच्छाओं द्वारा भ्रष्ट न किया जा सके। परंतु हम सतही व्याख्या से सहज ही संतुष्ट हो जाते हैं। हम कह देते हैं कि अमुक व्यक्ति इसलिये संत है क्योंकि वह बहुत सादा जीवन जीता है, दिन में एक बार भोजन करता है, मात्र दो जोड़े वस्त्र रखता है। और इस प्रकार हम समझते हैं कि हमने सादगी की समस्या को सुलझा लिया है। हो सकता है कि वह सादा व्यक्ति अपने अंदर जाने किस भंवर में गोते खा रहा हो। द्वंद्व में रहने वाला कोई भी व्यक्ति, चाहे वह कितना भी संत सरीखा हो, न तो सादा-सरल है, न ही धार्मिक।

बिगाड़ के कारकों का यदि पता लगाना है तो हमें सरल-सुगम प्रश्नों और उनके सरल-सुगम उत्तरों से संतुष्ट नहीं हो जाना चाहिये। इन्हें दरकिनार कर मसले की गहराई में जाना होगा, इन्हें तहस-नहस कर मामले की सच्चाई को जानना होगा; अब, इसके लिये ऊर्जा चाहिए। और यह ऊर्जा तभी आ सकती है जब आपको यह परवाह न रहे कि सादगी का जीवन अपनाने पर आपके अपने व्यक्तिगत जीवन का क्या होगा। अवनति के कारकों को जान लेने के लिये आपको छानबीन करनी होगी, और यह बुनियादी प्रश्न पूछना होगा कि क्या मन बिना किसी आदत के, बिना कोई अनुकरण किए जी सकता है। इसमें निहित है मान्यता व शब्द-प्रामाण्य की शंकाशील व्यापक गवेषणा—केवल थोपी गई मान्यताओं के संदर्भ में ही नहीं बल्कि अपने अनुभवों, ज्ञान, दिव्य दर्शनों इत्यादि के प्रामाण्य पर भी सवाल करना। तब हमें यह दीखने लगता है कि चाहे वह चेतन रूप से हो या अचेतन रूप से, जब तक किसी भी प्रकार का और किसी भी स्तर पर द्वंद्व विद्यमान रहता है तब तक इस अधोगति को आप रोक नहीं सकते। और प्रायः हम लोगों का जीवन एक विकराल द्वंद्व ही तो है—बिना किसी समाधान, बिना किसी मुद्दे का—एक अंतहीन द्वंद्व।

तो प्रश्न है कि क्या आदत, द्वंद्व और अनुकरण का अंत हो सकता है—जीवन के अंत में या मरकर नहीं बल्कि अभी, इसी गतिशील वर्तमान में। अनुकरण से मेरा अभिप्राय सतही नकल से नहीं है बल्कि मनौवैज्ञानिक तौर पर गहरी जड़ जमाये बैठे

अनुकरण से है जिसे हम किसी पद्धति, किसी नियमाचरण, किसी ढर्रे का अनुपालन करना कहते हैं—हिंदू ढर्रा, अमेरिकन ढर्रा, रूसी ढर्रा या कैथोलिक ढर्रा इत्यादि। हम यूं ही अनुकरण, नकल किए चले जाते हैं क्योंकि हममें कहीं एक आग्रह होता है—सुरक्षा में, मनौवैज्ञानिक सुरक्षा में सुख पाने की तलाश का। हम भीतरी, मनौवैज्ञानिक सुरक्षा की तलाश में रहते हैं और इसीलिये हम सभी बाह्य सुरक्षा से वंचित रहते हैं। यदि आप इस पर विचार करेंगे तो आपको इस बात की सच्चाई नज़र आ जायेगी।

सुरक्षित रहने की चाह भय को जन्म देती है—जीने में भी भय और मरने से भी भय। भय कोई अमूर्त मामला नहीं है। परछाईं की तरह यह आप के साथ-साथ रहता है, दिन भर, हर पल—अपने हाकिम का भय, अपनी पत्नी या अपने पति का भय, कुछ खो जाने का भय। और इसी भय के साथ हम जीने की जुगत करते रहते हैं, इसीलिये हम कभी भी नहीं जान पाते कि यह जीना है क्या। एक भयभीत मन जी कैसे सकता है? वह तो अपने लिये बस एक शरण-स्थली बना सकता है, आराम खोज सकता है, खुद को अलग-थलग कर सकता है, किसी ढर्रे, किसी धार्मिक मरीचिका, कपोल-कल्पना के पीछे दौड़ सकता है, इन सब में उलझा रह सकता है, परंतु यह तो कोई जीना नहीं है। और यह भय ही है जो मृत्यु को एक सुदूर घटऩा बना देता है। हम भय को स्वयं से बरसों दूर खिसका देते हैं और इस प्रकार तथ्य तथा भयजनित भ्रम के बीच एक बड़ा फासला खड़ा कर देते हैं, और इसी को हम जीना कहा करते हैं। इस प्रकार हमारा जीवन न तो समृद्ध है, न परिपूर्ण—मेरा अर्थ ज्ञान से परिपूर्ण होने, पुस्तक-पठन करने अथवा नवीनतम पुस्तक पढ़कर उसके बारे में अंतहीन बातें करते रहने से नहीं है। विपुल-समृद्ध जीवन से मेरा तात्पर्य है : जिसमें समझ हो, जो स्पष्ट, कुशाग्र, सजग, जीवंत तथा ऊर्जासंपन्न हो और स्वयं के अवलोकन व अनुशासन में समर्थ हो; तब वृक्ष को देखना, देखकर आंनदित होना, तारों को देखना, लोगों को बिना किसी द्वेष या ईर्ष्या के देखना संभव होता है। अतएव ऐसा जीवन महत्त्वाकांक्षा, लोभ और सफलता को पूजने में नहीं खोता।

कृपया ध्यान दीजिये, वक्ता का अभिप्राय वही है जो वह कह रहा है। ये मात्र शब्द नहीं हैं जिन्हें आप बस सुनें और फिर अपने उसी जीवन में लौट जायें। हम एक बहुत अधिक गहन-गंभीर विषय पर बात कर रहे हैं। अब एक नयी पीढ़ी, एक नये मन, नये लोगों की ज़रूरत है, न कि मृतप्राय बुढ़ाये मनों की—भय से भरे, भ्रष्टाचार से भरे, राष्ट्रवाद से भरे और अपनी घटिया-ओछी सरकारों को ढोते मनों की। जीने की प्रबल समस्या को सुलझाने हेतु एक नयी मानव जाति का अस्तित्व में आना बेहद ज़रूरी है, और उस नयी मानव जाति को लाने वाला आपके व मेरे अलावा कोई और नहीं है। आपको यह करना ही होगा—यह कार्य कोई अगली पीढ़ी नहीं करेगी बल्कि इसे अभी होना है, आपको इसकी तात्कालिक अनिवार्यता को समझना होगा। देखिये, जब आप किसी बात की तत्क्षण आवश्यकता को समझ लेते हैं तब उसी क्षण कुछ करना ज़रूरी हो जाता है। तब आपकी सारी क्षमताएं, पूरी ऊर्जा, पूरी सामर्थ्य जाग उठती है। इन सबको जगाना नहीं पड़ता, बल्कि जब आप किसी बात की शीघ्रावश्यकता महसूस कर लेते हैं

तो ये क्षमताएं स्वयं जाग्रत हो जाती हैं, यह ऐसा ही है जैसे भूख लगने पर खाने की एकदम ज़रूरत का एहसास होता है और फिर उसके लिये आप कुछ करे बगैर नहीं रहते।

हम जानते ही नहीं कि जीना क्या होता है और न ही हमें यह पता है कि मरना क्या है। जिसे आप जीना कहते हैं वह तो एक यंत्रणा है जिसमें कभी-कभार ही सुख का कोई झोंका आ जाता है जो एक सनसनाहट है—भरपेट और सुस्वादु भोजन, यौनसुख, बढ़िया कार चलाना या ऐसा करने की चाहत होना या ऐसी कार वालों के प्रति ईर्ष्यालु हो उठना इत्यादि। यही है हमारा जीवन। स्वयं को देखिये और आप पायेंगे कि हमारा जीवन कितना कुरूप, दरिंदों जैसा हो गया है—इसमें न कहीं कोई प्रेम है, न सौंदर्य है और न कोई संवार-संभाल। यही है हमारा जीवन और इसीमें संतुष्ट हम चलते रहते हैं। हम इससे निबाह कर लेते हैं। हम यह नहीं कहते, "इस जकड़ को तोड़ा जाए, सच्चाई का पता लगाया जाए।" हम बस तरह-तरह के भ्रामक और कपोलकल्पित कारण, बहाने गढ़ते रहते हैं।

पूर्णतया और समग्रता से जीने के लिये आप यह नहीं कर सकते कि उस पार कोई आदर्श रख लें और इस पार जिएं। आदर्श का कोई अर्थ नहीं होता। वह तो किस्से-कहानी की तरह है। जो वास्तविकता है वह है आपकी रोज़ाना की मशक्कत, चिंताएं, आशाएं और डर। यही है असलियत और हम इसके अभ्यस्त हो गये हैं, और अपनी इस यंत्रणा, प्रत्याशा, भय और महत्त्वाकांक्षा की स्मृति के साथ हम मृत्यु को देखने के लिए मुड़ते हैं जो अभी बहुत दूर है। तो होता क्या है? होता यह है कि हम मृत्यु से भी भयभीत रहते हैं और जीवन से भी।

यह जानने के लिये कि मृत्यु क्या है, एक ऐसे मन की आवश्यकता होती है जिसमें कोई भय न हो। मैं नहीं जानता कि आपने विमानचालकों को देखा है या नहीं—उन विमानचालकों को जो एक हजार मील प्रति घंटे या इससे भी अधिक गति से उड़ने वाले विमान को चलाते हैं। दुनियाभर के योगियों का प्रशिक्षण भी इन विमानचालकों के प्रशिक्षण के मुकाबले कहीं नहीं ठहरता। उन्हें मृत्यु का सामना करने के लिए तैयार रहना होता है और इसीलिये उनकी प्रतिक्रिया त्वरित, अचेतन की गहराई से होनी ज़रूरी है। वर्षों तक उन्हें मृत्यु का सामना करने का प्रशिक्षण दिया जाता है—जीवित बचने के लिये उन्हें समस्त उपकरणों और सारे आदेशों के प्रति त्वरित प्रतिक्रिया की आवश्यकता होती है। मृत्यु से भयभीत न होने का एक तरीका तो यह हुआ, अर्थात् स्वयं को इतना अधिक प्रशिक्षित कर लेना, इस कदर गुलाम बना लेना कि आप किसी और के आदेश पर अपने देश के लिये या ऐसी ही किसी बेतुकी बात के लिये मर मिटें। इसके अलावा एक आत्महत्या वाली भी मौत है यानी जब आप जीवन से रू-ब-रू होते हैं और इसका कोई महत्त्व, कोई मतलब नहीं पाते हैं और इसलिए आप इसका अंत करने पर तुल जाते हैं, किसी पुल से छलांग लगा देते हैं अथवा गोलियां निगल लेते हैं। फिर आता है एक और ढंग अर्थात् तथाकथित धार्मिक मार्ग : आप पुनर्जन्म या मृतोत्थान में अजीब-अजीब विश्वास रखने लगते हैं, मृत्यु के बारे में तर्क देने लगते हैं क्योंकि आप अगला जीवन भी

ऐसे ही हौलनाक तरीके से बिताने वाले हैं—यंत्रणा, संताप और हताशा से भरा हुआ, असत्य और आडंबर से भरपूर, परंतु आप इन विश्वासों में खुश हैं क्योकि अस्थायी रूप से ही सही, वे आपको दिलासा देते रहते हैं, आपके भय को ढांपे रहते हैं।

तो मरने के ये सारे ढंग बड़े आम हैं, यथार्थ से कटे हैं और भरोसे के लायक नहीं हैं। हम यहां एक भिन्न प्रकार के मरण की बात कर रहे हैं और वह है मृत्यु के साथ जीना अर्थात् स्वयं के व अंततोगत्वा होने वाली उस घटना के बीच में समय के अंतराल को न आने देना। आखिर में तो मृत्यु होनी ही है, वह अब से पचास वर्ष बाद हो या सौ वर्ष बाद, अथवा चिकित्सक या वैज्ञानिक इसमें शायद पचास वर्ष और जोड़ दें, परंतु वह अपरिहार्य अंत तो आना ही है। हम बात कर रहे हैं मृत्यु के साथ स्वैच्छिक रूप से जीने की। मैं इसीकी छानबीन कर रहा हूँ क्योंकि मृत्यु की सारी समस्या के समाधान का यह एकमेव मार्ग है; वह समाधान विश्वासों तथा आदर्शों के माध्यम से, भय के पूरे जंजाल या अन्य किसी तामझाम के माध्यम से संभव नहीं है।

यह पता लगाने के लिये कि मृत्यु क्या है अपनी परेशानियों के साथ जीवन व्यतीत करते हुए इस व्यक्ति के—जो कि आप हैं—और मृत्यु के बीच कोई दूरी नहीं होनी चाहिये। अभी जब आप काफी हद तक जीवंत हैं, सचेत हैं, पूरी तरह निष्प्राण नहीं हुए हैं, और होश बाकी है, आपको मृत्यु का अर्थ अभी समझ लेना है और मृत्यु के साथ ही जीना है। मृत्यु नामक यह शै हर उस चीज़ का अंत है जिसे आप जानते हैं। आपका तन, आपका मन, आपका कार्य, आपकी महत्त्वाकांक्षा, वे चीज़ें जो आपने बनाई हैं, वे कार्य जो आप करना चाहते हैं, वे कार्य जो अभी आप के हाथ में हैं, जिन्हें पूरा करने में आप जुटे हैं—मृत्यु के साथ इन सभी का अंत हो जाता है। यही तथ्य है : अंत। बाद में क्या होता है वह एक अलग विषय है। वह महत्त्वपूर्ण नहीं है क्योंकि जब भय ही नहीं रहेगा तो आप यह भी जानना नहीं चाहेंगे कि बाद में क्या होने वाला है। और तब, मृत्यु एक अद्‌भुत घटना हो जाती है—कोई आत्मपीड़क, असामान्य, रुग्ण वाकया नहीं—क्योंकि मृत्यु तब अज्ञात ही है, और उस अज्ञात में है अगाध सौंदर्य।

ये सिर्फ बातें नहीं हैं।

तो मृत्यु की कोई मूढ़ और प्रतीकात्मक छवि बना लेने के बजाय इसका पूरा महत्त्व समझने के लिये, इसका निहितार्थ जान लेने के लिये और इसकी अपरिमेयता को देख पाने के लिये, जीने और मरने के भय को पूरी तरह मिटा देना होगा—केवल चेतन मन में ही नहीं बल्कि भीतर गहराई तक। बहुत से लोग मरना चाहते हैं, मरने की कामना करते हैं क्योंकि हमारा जीवन खोखला है। अतः इस खोखलेपन के चलते हम ज़िंदगी का कोई अर्थ, कोई सार गढ़ लेते हैं। हम पूछने लगते हैं, "जीवन का प्रयोजन क्या है?" चूंकि हमारा जीवन अत्यंत खोखला, छिछला और निरर्थक है, हम सोचते हैं कि हमारे पास कोई न कोई आदर्श होना चाहिये जिसके लिये हम जियें। यह सोच बिल्कुल बेमानी है। जिसे आप जीना कहते हैं उस तथ्य के, तथा जिसे आप मृत्यु कहते हैं उस तथ्य के बीच विभाजन करने से डर आ खड़ा होता है। वास्तव में, इसका अर्थ क्या है—नज़री तौर पर

नहीं बल्कि असलियत में? हम नज़री तौर पर विचार-विमर्श नहीं कर रहे हैं, हम किसी विचार या अवधारणा को केवल सूत्रबद्ध करने के लिये यह चर्चा नहीं कर रहे हैं। हम तो तथ्य की बात कर रहे हैं, परंतु आप यदि किसी तथ्य को एक सिद्धांत के दायरे में परिभाषित कर देते हैं तो यह आपका अपना दुर्भाग्य होगा। आप अपने ही डर के साये में जियेंगे और आपके जीवन की वैसी ही दुर्दशा में इति हो जायेगी जैसी दुर्दशा में इसकी शुरुआत हुई थी।

तो आपको जानना यह है कि मृत्यु के साथ जीना कैसे हो—सवाल किसी पद्धति का नहीं है। किसी ऐसी चीज़ के साथ रहने के लिये आप कोई पद्धति-प्रणाली नहीं बना सकते जिसे आप जानते न हों। आप कोई अवधारणा बनाकर यह नहीं कह सकते, “मुझे कोई पद्धति बताइये, मैं उसका अभ्यास कर लूंगा और फिर मृत्यु के साथ जिऊँगा।” इस बात का कोई अर्थ नहीं है। आपको पता लगाना होगा कि किसी ऐसी चीज़ के साथ जीने का क्या अर्थ है जो बेशक एकदम अद्‌भुत ही होगी। मृत्यु कहलाने वाले इस वाकये से कैसे दो-चार हुआ जाये, वास्तव में इसे कैसे महसूस किया जाये, कैसे इस चीज़ से अवगत हुआ जाये जिससे आप इतनी बुरी तरह भयाक्रांत रहते हैं। उस चीज़ के साथ जीने का क्या अर्थ है जिसे आप जानते नहीं हैं? मुझे नहीं मालूम कि आपने कभी इस तरह सोचा है या नहीं। शायद सोचा ही न हो। इससे भयाक्रांत रहने के कारण जो कुछ आपने किया है वह इतना ही है कि इससे नज़रें चुराकर आपने कन्नी काट ली है या फिर आप किसी आशा-भरोसा दिलाने वाले आदर्श की शरण में चले गए हैं। परंतु आपको एक मूलभूत प्रश्न सच में पूछना होगा और वह है यह पता लगाना कि मृत्यु क्या है और यह कि क्या आप इसके साथ उसी तरह जी सकते हैं जैसे अपनी पत्नी, अपने बच्चों, अपने रोजगार और अपनी व्यग्रताओं के साथ जीते हैं? आप इन सब के साथ तो जी ही रहे हैं न? क्या आप इसी प्रकार किसी ऐसे वाकये के साथ भी जी सकते हैं जिसे आप जानते न हों?

यह जान लेने के लिये कि न केवल जीवन नाम की शै के साथ बल्कि मृत्यु—जो अज्ञात है—उसके साथ जीने के क्या मायने हैं, इसे गहराई तक समझने के लिये, हमें उन चीज़ों के प्रति मर जाना होगा जिन्हें हम जानते हैं। मैं मनौवैज्ञानिक जानकारी की बात कर रहा हूँ न कि आपके घर या आपके कार्यालय से संबधित जानकारी की, क्योंकि यदि आप उन्हें याद नहीं रखेंगे तो आपको कल पैसा नहीं मिल पायेगा या आप अपना रोजगार खो बैठेंगे या आपको भोजन नहीं मिल पायेगा। हम उन चीज़ो के प्रति मरने की बात कर रहे हैं जिनके साथ आपका मन चिपका रहता है। देखिये, हम उस सब के प्रति तो मरना चाहते हैं जो हमें पीड़ाप्रद लगता है, हम अपमान के प्रति तो मरना चाहते हैं परंतु प्रशंसा से चिपके रहना चाहते हैं, हम दुख के प्रति तो मर जाना चाहते हैं परंतु सुख को कसकर थामे रहते हैं। अपने मन का अवलोकन कीजिये। क्या आप सुख के प्रति भी मर सकते हैं, कभी कालांतर में नहीं बल्कि तत्काल? आप मृत्यु से बहस नहीं करते, उससे कोई लंबा वाद-विवाद नहीं कर सकते। आपको अपने सुख के प्रति स्वेच्छापूर्वक मरना होगा, परंतु

इसका अर्थ यह नहीं है कि आप कठोर, निर्दयी, अभद्र हो जायें—आपके इन संतों की तरह। इसके उलट, आपको अत्यधिक संवेदनशील होना है—सौंदर्य के प्रति, मलिनता के प्रति, दुर्दशा के प्रति। और संवेदनशील होने के कारण आप असीम और अनंत रूप से सार-संभाल करने वाले हो जाते हैं।

क्या उन बातों के प्रति भी मरना संभव है जो आप स्वयं अपने बारे में जानते हैं? मैं बिल्कुल सतही उदाहरण दे रहा हूँ—किसी आदत के प्रति मर जाना, किसी खास आदत को छोड़ देना जैसे मदिरापान, धूम्रपान, कुछ विशेष खाने की आदत अथवा सेक्स की आदत—इससे पूरी तरह पीछे हट जाना बिना किसी आयास के, बिना किसी संघर्ष के, बिना किसी द्वंद्व के और बिना यह कहे, "मुझे इसे छोड़ देना चाहिये।" तब आप देखेंगे कि आपने ज्ञान, अनुभव और उन तमाम बातों की स्मृतियों को पीछे छोड़ दिया है जिन्हें आपने जाना था, सीखा था, और जिनके साथ अभी तक जीवन जिया था। फिर आप कभी भयाक्रांत नहीं होंगे और आपका मन उस चीज़ को देखने के लिये आश्चर्यजनक रूप से स्पष्ट हो जायेगा जो एक अद्भुत चमत्कार है, जिससे मनुष्य सहस्राब्दियों से भयभीत रहा है, उसे देखने के लिये जिससे आपका सामना हो रहा है, जो समय की परिधि में नहीं है और पूर्णतया अज्ञात है। केवल वही मन यह अवलोकन कर पाता है जो भयभीत नहीं है अतएव ज्ञात से मुक्त है—ज्ञात अर्थात् आपका क्रोध, आपकी महत्त्वाकांक्षाएं, आपका लोभ, और आपकी तुच्छ लोलुपताएं। यह सब ज्ञात के अंतर्गत आता है। आपको इनके प्रति मरना होगा, इन्हें स्वेच्छा से, सहजता से और बिना आयास के छोड़ देना होगा। और यह संभव है—यह कोई प्रमेय या सूत्र-सिद्धांत नहीं है। तब मन का कायाकल्प हो जाता है, वह युवा, निर्दोष और कोरा हो जाता है, और इसीलिये वह उस वाकये के साथ जी सकता है जिसे मृत्यु कहते हैं।

तब आप पायेंगे कि जीवन साररूप से भिन्न हो गया है, तब जीवन और मृत्यु विभाजित नहीं रहते, एक हो जाते हैं, क्योंकि उस तरह जीने के लिये आप प्रतिदिन-प्रतिपल मर रहे होते हैं। जीने के लिये आपको प्रतिदिन मरना ही होगा अन्यथा आप किसी ग्रामोफोन रिकार्ड की तरह बस बजते और केवल बजते रहेंगे। तो जब आप इस सच की सुवास वास्तव में पा लेंगे—किसी और की नासिका से नहीं, बल्कि अपनी ही सांसों में, आपके अपने वजूद में, किसी विशेष अवसर पर नहीं बल्कि प्रतिदिन, सोते-जागते, तब आप किसी और के बताने पर नहीं बल्कि स्वयं ही यह जान लेंगे कि यह जीना कितना अद्भुत है—शब्दों तथा प्रतीकों के साथ जीना नहीं बल्कि वास्तविकता के साथ, मृत्यु के साथ जीना और तदनुसार ऐसे संसार में जीना जिसमें ज्ञात अनुपस्थित हो, ज्ञात से सर्वदा मुक्ति हो। केवल ऐसा ही मन देख पाता है कि सत्य क्या है, सौंदर्य क्या है, और वह क्या है जिसका न कोई ओर है न छोर।

नई दिल्ली,
6 नवंबर 1963

इक्कीस

अब प्रश्न आता है मरण का जिसे हमने बड़ा संभालकर अपने से बहुत दूर रख छोड़ा है जैसे यह कोई आगे कभी भविष्य में होने वाली बात हो—यह भविष्य पचास वर्ष बाद भी हो सकता है या कल भी। हम अंत से बहुत घबराते हैं, अपना शारीरिक अंत होने से और उन तमाम चीज़ों के बिछुड़ जाने से भी जो हमारे कब्ज़े में हैं, जिन्हें पाने के लिये हम कोल्हू का बैल बने रहते हैं—पत्नी, पति, घर, फर्नीचर, छोटी सी बगिया, पुस्तकें और वे कविताएँ जो हमने लिखी हैं या जिन्हें लिखने की आशा है। हम इन सभी के खो जाने से भयभीत रहते हैं, क्योंकि हम ही वह फर्नीचर हैं, वे चित्र हैं जो हमारी मिल्कियत हैं; हममें यदि वायलिन बजाने की कला है तो हम ही वह वायलिन हो जाते हैं। चूंकि हमने इन तमाम चीज़ों के साथ तादात्म्य कर लिया है अतः हम ये सब चीज़ें बन कर रह गये हैं, और कुछ भी नहीं। आपने क्या कभी इस दृष्टिकोण से देखा है? आप मकान ही हो गये हैं—इसके शटर, शयनकक्ष, और उस फर्नीचर सहित जिसे आप वर्षों से संभाल कर रखे हुए हैं, पालिश से चमकाते रहे हैं, जो आपके स्वामित्व में हैं—यही सब कुछ तो है जो आप हो गये हैं। आप यदि इस सब को हटा दें तो आप कुछ नहीं रह जाते।

और यही बात है जिससे आप भयभीत रहते हैं—कुछ न रह जाना। क्या यह अति विचित्र बात नहीं है कि कार्यालय जाते-जाते आप चालीस वर्ष कैसे व्यतीत कर देते हैं और जब यह करना बंद करते हैं तो आपके हृदय में गड़बड़ी हो जाती है और आप मर जाते हैं? आप ही कार्यालय, आप ही फाइल, अपने पद के अनुसार आप ही लिपिक या प्रबंधक 'हो' जाते हैं। आप 'वही' कुछ बन कर रह जाते हैं, कुछ और नहीं। और आपके पास होती हैं बहुत सी अवधारणाएं—ईश्वर, भलाई और सत्य के बारे में और इस बारे में कि समाज कैसा हो—बस यही कुछ तो हैं आप। दुख की जड़ यही है। इसका एहसास कि आप ही यह सब हैं बहुत बड़ा दुख है, परंतु सबसे बड़ा दुख है इस का एहसास ही न होना। यह देख पाना और यह पता लगाना कि इसका क्या अर्थ है, यही मृत्यु है।

मृत्यु अपरिहार्य है। सभी शारीरिक संरचनाओं का अंत निश्चित है। परंतु हम तो अतीत पर अपनी पकड़ खो जाने से भयभीत रहते हैं। हम अतीत ही तो हैं। हम ही समय हैं, हम ही दुख हैं, हम ही वह हताशा हैं जिसमें न कोई रमणीयता है, न अच्छाई का कोई फूल खिला है और न ही है कोई गहन सौम्यता—और यदि कुछ है भी तो वह भी केवल कभी-कभार, न कि हमेशा।

और मृत्यु से भयभीत रहते हुए हम कह उठते हैं "क्या मेरा फिर से जन्म होगा?" जिसका तात्पर्य होगा युद्ध को, द्वंद्व को, विपत्ति को, चीज़ों के स्वामित्व को, संचित अनुभवों को जारी रखना। सारा पूरब पुनर्जन्म में विश्वास रखता है। जो आप हैं उसका पुनर्जन्म होते देखना आपको प्रिय है। परंतु आप हैं तो यही सब कुछ : यही गड़बड़झाला,

यही विभ्रम, यही अव्यवस्था। पुनर्जन्म में यह बात निहित है कि हम फिर से जन्म लेंगे। अतः महत्त्व इस बात का अधिक है कि आप अब, इस जन्म में क्या करते हैं, इस बात का नहीं कि अगला जीवन कैसा होगा—यदि पुनर्जन्म कुछ होता है तो। यदि आपका पुनर्जन्म होता है तो जिस बात का महत्त्व है वह यह है कि आप आज किस प्रकार जी रहे हैं क्योंकि आज अर्थात् यह जन्म ही आपके आने वाले कल अर्थात अगले जन्म के लिये सुख या दुख के बीज बोयेगा। परंतु जो लोग पुनर्जन्म में बहुत गर्मजोशी से विश्वास करते हैं उन्हें इस बात से कोई सरोकार नहीं होता कि व्यवहार कैसे किया जाये। यदि वे आज के व्यवहार से सरोकार रखते तो आने वाले कल की चिंता नहीं करते, क्योंकि आज पर अवधान देने में, जो सामने है उस पर ध्यान देने में ही अच्छाई का वास है।

मरना तो जीने का ही एक हिस्सा है। मरे बिना आप प्रेम नहीं कर सकते—उन तमाम चीज़ों के प्रति मरे बिना जो प्रेम नहीं हैं, उन समस्त अवधारणाओं के प्रति मरे बिना जो आपकी इच्छाओं से ही उपजी हैं। पूरे अतीत के प्रति और तमाम अनुभवों के प्रति मरकर ही आप जान पायेंगे कि प्रेम क्या है, और यह भी कि जीना क्या है। अतएव जीना, मरना और प्रेम करना एक ही बात है और यह बात एकदम पूरी तरह से अब में, वर्तमान में जीने से जुड़ी है। तब वह कर्म संभव होता है जो उस अंतर्विरोध से ग्रस्त नहीं होता जो अपने साथ पीड़ा और दुख लाता है; जीने में, प्रेम करने में और मरने में कर्म की सार्थकता है। यही कर्म व्यवस्था है। और यदि कोई इस तरह जीता है—और जीना भी चाहिए, वह भी कभी-कभार नहीं बल्कि हर दिन व हर पल—तब सामाजिक व्यवस्था आयेगी और तब आयेगी मानव-एकता; और तब सरकारें महत्त्वाकांक्षा से भरे व संस्कारग्रस्त राजनेताओं द्वारा नहीं बल्कि कंप्यूटरों द्वारा चलायी जाया करेंगी। अतः जीने के मायने ही हैं प्रेम करना और मरना।

'गरुड़ की उड़ान' से :
जीवन का समूचापन :
11 मई 1969

बाईस

एक लता है, मेरे ख्याल से इसे मॉर्निंग ग्लोरी कहते हैं, इसके फूल अपने ही तरह के अनोखे रंग बिखेरे रहते हैं—कुछ हल्के नीले या नील-लोहित आभा वाले गहरे बैंगनी या अनोखे श्वेत। केवल पूरे खिले फूलों में ही ये रंग होते हैं। तुरही आकार के ये फूल प्रातःकाल में ही खिल उठते हैं, परंतु कुछ घंटे बाद मुरझाने लगते हैं। आपने ये फूल अवश्य ही देखे होंगे। मर जाने पर भी ये लगभग उतने ही सुंदर रहते हैं जितने सुंदर वे जीवित रहते हुए थे। वे कुछ घंटों के लिये ही खिलते हैं और फिर मर जाते हैं, परंतु अपनी मृत अवस्था में भी वे अपनी पुष्प वाली गुणवत्ता खोते नहीं हैं। हम तीस, चालीस, साठ या अस्सी वर्षों तक खासे द्वंद्व में, आपदा में जीते हैं, क्षणभंगुर सुखों को भोगते हैं, फिर दुख से लबालब भरे मुरझाए हृदय के साथ मर जाते हैं। अपने मरण में भी हम उतने ही कुरूप होते हैं जितने जीवन में।

मैं समय, दुख और मृत्यु के बारे में चर्चा करने जा रहा हूँ। एक बात हमें बिल्कुल स्पष्ट होनी चाहिए कि हम विचारों-धारणाओं के बारे में नहीं वरन् तथ्यों के बारे में बात कर रहे हैं। वह पुष्प, उसका खिलना, उसकी सुंदरता, कोमलता, उसकी भीनी सुगंध—यह एक तथ्य है। कुछ घंटे बाद ही बयार चलने और धूप खिलने पर उसका मर जाना परंतु मर जाने पर भी सुंदर बना रहना—यह भी तथ्य है। तो हम तथ्यों के बारे में चर्चा करेंगे, न कि धारणाओं के बारे में।

आप में यदि कल्पनाशीलता है तो आप इन पुष्पों के रंग की कल्पना कर सकते हैं। आप मन में इस लता का एक चित्र, इसकी एक काल्पनिक छवि बना सकते हैं जिसमें इसके सुकोमल रंग हों, सुकोमल रंग वाले पुष्प हों, इन पुष्पों का अद्‌भुत सौंदर्य हो। परंतु आपकी यह कल्पना, उस लता को लेकर आपका भाव वह लता नहीं हैं। अपने पुष्पों से लदी वह लता एक तथ्य है परंतु इन पुष्पों के बारे में आपकी धारणा तथ्य होते हुए भी वास्तविकता नहीं है। एक खयाल के ज़रिये आप फूलों के वास्तविक संपर्क में नहीं हो जाते। हमें यह ध्यान रखना होगा कि हम तथ्यों पर चर्चा कर रहे हैं, अवधारणाओं पर नहीं, और यह भी ध्यान रखें कि अवधारणाओं के माध्यम से आप तथ्य को सीधे-सीधे, प्रत्यक्ष रूप से, वस्तुतः स्पर्श नहीं कर सकते, उसके संपर्क में नहीं आ सकते। मृत्यु अनुभूत नहीं की जा सकती। किसी भी अवधारणा के माध्यम से कोई उसके संपर्क में नहीं आ सकता। हम लोग प्रायः अवधारणाओं के, सूत्रों के, परिभाषाओं और स्मृति के साथ जिया करते हैं और इसीलिये हम कभी किसी भी चीज़ के संपर्क में नहीं आ पाते। अधिकांशतः हम अपनी धारणाओं के साथ ही जीते हैं, तथ्यों के साथ नहीं।

मैं समय, दुख और उस विचित्र घटना के बारे में चर्चा करने जा रहा हूँ जिसे मृत्यु कहते हैं। हम या तो अवधारणाओं तथा निष्कर्षों के रूप में इनका अर्थ निरूपित कर

सकते हैं या हम समय व उसके आयाम की संपूर्ण समस्या के संपर्क में सीधे-सीधे आ सकते हैं। हम दुख के सीधे संपर्क में आ सकते हैं—अर्थात उस दारुण वेदना की अनुभूति के संपर्क में। और हम उसके प्रत्यक्ष संपर्क में भी आ सकते हैं जिसे हम 'मृत्यु' कहते हैं। या तो हम समय, दुख, प्रेम और मृत्यु के सीधे संपर्क में आते हैं या हम इन्हें निष्कर्षों के सिलसिले के रूप में स्वीकार कर लेते हैं—मृत्यु के अपरिहार्य होने जैसी व्याख्याओं के रूप में। इन व्याख्याओं, निष्कर्षों, अभिमतों, विश्वासों, संकल्पनाओं और प्रतीकों का वास्तविकता से कोई सरोकार नहीं होता—समय की वास्तविकता से, दुख की वास्तविकता से, मृत्यु व प्रेम की वास्तविकता से—किसी से भी नहीं। आप यदि अपनी अवधारणा के, अपने अभिमत के सहारे समय, दुख या मृत्यु के साथ जीने की, इन्हें देखने या इनके संपर्क में आने की प्रत्याशा पाले हुए हैं तो हम जो कुछ यहां कह रहे हैं उस सबका आपके लिये कोई अर्थ नहीं होगा। सच तो यह है कि तब आप सुनेंगे ही नहीं, आप केवल शब्दों को पकड़ लेंगे और अपनी अवधारणाओं व निष्कर्षों की वजह से आप उसके सीधे संपर्क में आ ही नहीं पायेंगे।

'संपर्क' से मेरा तात्पर्य यह है : मैं इस मेज़ को छू सकता हूँ तो मैं मेज के सीधे संपर्क में हूँ; परंतु इसको लेकर कि मेज को कैसे छुआ जाना चाहिए मेरी अपनी धारणाएं हैं तो मैं मेज के सीधे संपर्क में नहीं हूँ। इस प्रकार, धारणा मुझे सीधे-सीधे, तत्क्षण और सघन संपर्क में आने से रोकती है। जो कुछ कहा जा रहा है यदि आप उसके सीधे संपर्क में नहीं हैं तो आपकी निरर्थक जीवन शैली जारी रहेगी। हमारा जीवन जीने के लिये है। हम किसी भावी जीवन की बात नहीं कर रहे—उस पर हम कुछ देर बाद आयेंगे। हमारा यह जीवन जीने के लिये है। हम समय-साधन बरबाद करते हुए, ज़िंदगी ज़ाया करते हुए जिये हैं—ऐसी ज़िंदगी के अपने कोई मायने नहीं हैं। हम भारी पीड़ा, द्वंद्व व आपदाओं में जीते आये हैं। परंतु हम कभी जीवन के संस्पर्श में नहीं आ पाये हैं। मेरे विचार से यह अत्यंत खेदजनक है कि आप केवल धारणाओं के साथ जिये हैं, तथ्यों के साथ नहीं।

हम समय के बारे में चर्चा करने जा रहे हैं। मैं नहीं जानता कि आपने इस विषय पर कभी कुछ सोचा है या नहीं—किसी निष्कर्ष के रूप में नहीं, किसी अवधारणा के रूप में नहीं, न ही किसी परिभाषा के रूप में, बल्कि समय के सचमुच संपर्क में आकर। जब आप भूखे होते हैं तो आप भूख के प्रत्यक्ष संपर्क में होते हैं, परंतु आपको क्या खाना चाहिये, कितना खाना चाहिये, स्वाद का वह आनंद जो आपको भोजन से लेना चाहिये—ये सब अवधारणाएं हैं। तथ्य एक चीज़ है और अवधारणा दूसरी। अतः समय के इस अद्भुत विषय को समझने के लिये आपको इसके सीधे-सीधे संपर्क में आना होगा—किसी अवधारणा या किसी निष्कर्ष के माध्यम से नहीं बल्कि एकदम करीब से, सीधे-सीधे और अंतरंग रूप से इसके संपर्क में आकर। तभी आप समय के इस प्रश्न की गहराई में जा सकते हैं और यह जान सकते हैं कि क्या मन समय से मुक्त हो सकता है।

एक तो समय घड़ी के अनुसार होता है, तिथियों में चलता है। वह समय तो आवश्यक है। उसमें स्मृति, योजना, रूपरेखा आदि शामिल रहते हैं। हम प्रतिदिन के तिथि

वाले समय पर चर्चा नहीं कर रहे हैं। हम उस समय के बारे में बात कर रहे हैं जो घड़ी में नहीं बसता। हम केवल घड़ी के समय के अनुसार ही नहीं जीते बल्कि इससे कहीं अधिक हम एक ऐसे समय के अनुसार जीते हैं जिसका घड़ी से कोई संबंध नहीं है, अर्थात घड़ी वाले समय का महत्त्व तो है परंतु हम लोगों के लिये जिस समय का कहीं अधिक महत्त्व है, अधिक अर्थ है और जिसकी अधिक प्रासंगिकता है वह है मनौवैज्ञानिक समय— निरंतरता के रूप में, बीते हुए कल के रूप में, ऐसे हजारों कल व परंपराओं के रूप में, वर्तमान के रूप में ही नहीं अपितु भविष्य के रूप में भी।

इस प्रकार हमारे पास जो समय है वह अतीत के रूप में है, और अतीत है स्मृति के रूप में, ज्ञान, परंपरा, अनुभव तथा यादों में संजोयी चीज़ों के रूप में—और वर्तमान है अतीत द्वारा भविष्य की ओर जाने के लिये प्रयुक्त गलियारे की तरह—उस भविष्य की ओर जिसे अतीत द्वारा वर्तमान के माध्यम से रूपाकार दिया जाता है, नियंत्रित किया जाता है। हमारे लिये घड़ी वाला समय नहीं बल्कि यह समय अधिक महत्त्व रखता है क्योंकि समय के इसी आयाम में हम जीते हैं। हम उस अतीत में जीते हैं जो वर्तमान से द्वंद्व करता हुआ हमारे भविष्य को रचता है। यह एक सुस्पष्ट तथ्य है। इसमें जटिल कुछ भी नहीं है। इस प्रकार यह समय निरंतरता के रूप में रहता है, अतीत और भविष्य के रूप में, और अतीत हमारी सोच, हमारी गतिविधि तथा हमारे दृष्टिकोण के रूपाकार को गढ़ता रहता है और तदनुसार हमारे भविष्य को अपने प्रभाव से ग्रसित कर देता है।

हम इस समय को विकास के माध्यम के रूप में, कुछ हासिल करने के प्रयासों के रूप में और हौले-हौले होने वाले बदलाव के रूप में प्रयुक्त करते हैं। हम समय का उपयोग इसलिये करते हैं क्योंकि हम अकर्मण्य हैं, आलसी हैं। चूंकि हम स्वयं को बदल डालने का कोई तरीका नहीं ढूंढ़ पाए हैं, या फिर हम त्वरित परिवर्तन और उसके परिणामों से भयभीत रहने की वजह से कह देते हैं, "मैं धीरे-धीरे बदलूंगा।" तो हम समय को स्थगन के माध्यम के तौर पर, धीरे-धीरे कुछ हासिल करने और बदलाव लाने के लिए प्रयुक्त करते हैं। कोई तकनीक सीखने या कोई भाषा सीखने के लिये तो हमें घड़ी वाला समय, कुछ महीनों का समय चाहिये ही, परंतु स्वयं में परिवर्तन के लिये हम घड़ी वाला नहीं बल्कि मनौवैज्ञानिक समय प्रयुक्त करते हैं—परिवर्तन के माध्यम के रूप में; और इसीलिये हम एक चरणबद्ध प्रक्रिया का सहारा लेते हैं, "समय के साथ-साथ धीरे-धीरे मुझे उपलब्धि होगी; मैं कुछ बन जाऊंगा; मैं यह हूँ, मैं वह हो जाऊंगा"।

समय विचार की उपज होता है। आप यदि आने वाले कल के बारे में न सोचें अथवा विचार द्वारा अतीत में न झांकें तो आप वर्तमान में जियेंगे जहां न अतीत होगा और न भविष्य। आप बस उसी दिन के लिये जी रहे होंगे—उसी दिन को अपना समृद्ध, संपूर्ण, भरपूर अवधान देते हुए, ध्यान देते हुए। चूंकि हम इतने भरपूर तरीके से, ज़बरदस्त ज़रूरत के एहसास के साथ आज में जीना और आज ही संपूर्ण कायाकल्प कर लेना नहीं जानते, अतः हमने भविष्य की अवधारणा रच डाली है, "मैं कल बदल जाऊंगा, मैं ऐसा करूंगा, कल मुझे अनुपालन करना ही होगा इत्यादि। इस प्रकार विचार मनौवैज्ञानिक

समय को रच लेता है, और फिर विचार भय को भी ले आता है।”

कृपया इस सारी बात को समझ लीजिये। आपने यदि यह सब अभी नहीं समझा, तो आप इसे अंत में नहीं समझ पायेंगे। ये शब्द मात्र रह जायेंगे और आप के हाथ कुछ नहीं आयेगा।

अधिकतर हम लोगों में भय रहता है, चिकित्सक का भय, रोग का भय, अनुपलब्धियों का भय, अकेला पड़ जाने का भय, वृद्धावस्था का भय, निर्धनता का भय : ये सभी बाहरी भय हैं। फिर हममें हजारों आंतरिक भय भी हैं : ‘कोई क्या कहेगा’ का भय, मृत्यु का भय, इतना अकेला पड़ जाने का भय कि पूरा जीवन बिना किसी साथी के गुज़ारना पड़े, और तथाकथित ‘ईश्वर’ की प्राप्ति न कर पाने का भय। मनुष्य में हजार भय हैं, और भयाक्रांत रहने के कारण या तो वह किसी बड़े तंत्र में पलायन कर जाता है—भले ही वह तंत्र चतुर-चालाक हो या अधूरा-अनगढ़—अथवा वह अपने तमाम भयों के लिये तर्क ढूंढ़ लेता है, या फिर वह असंतुलित हो जाता है, क्योंकि वह अपने भयों को नहीं समझ पा रहा है, उनका समाधान नहीं कर पा रहा है, अथवा वह किसी तादात्म्य द्वारा, सामाजिक गतिविधियों द्वारा, किसी समाज-सुधार में जुटकर या किसी राजनीतिक दल से जुड़कर भय से, अपने तरह-तरह के डरों से, बिल्कुल पलायन कर जाता है।

देखिये, मैं कोई कपोलकल्पित बातें नहीं कर रहा हूँ बल्कि आप सब में सचमुच जो कुछ हो रहा है मैं उसी की बात कर रहा हूँ। इसी प्रकार आप केवल मेरे शब्दों पर ही ध्यान नहीं दे रहे हैं, बल्कि प्रयुक्त शब्दों के माध्यम से स्वयं को देख रहे हैं। आप ख्यालों-धारणाओं के माध्यम से स्वयं को नहीं देख रहे हैं बल्कि इस तथ्य के सीधे-सीधे संपर्क में आ रहे हैं कि आप भयभीत हैं—और यह उस वैचारिक स्तर के कथन से, उस धारणा से बिल्कुल भिन्न बात है कि आप भयभीत हैं।

जब तक आप भय की प्रकृति को समझ नहीं लेते और उससे पूर्णतया मुक्त नहीं हो जाते तब तक आपके देवी-देवता, आपके पलायन और आपके द्वारा किये जा रहे तमाम सामाजिक कार्य इत्यादि कोई अर्थ नहीं रखते, क्योंकि तब आप एक विनाशकारी व्यक्ति बने रहेंगे—अपना स्वार्थ साधते हुए—परंतु फिर भी आप इस भय का निदान नहीं कर पायेंगे। कोई सनकी व्यक्ति अपने तमाम भयों में रहने के कारण कुछ भी करे—उसके वे कार्य चाहे जितने अच्छे हों—वह अपने कार्यों से विनाश-विध्वंस के ही बीज बोता है क्योंकि उसके सभी कार्य तथ्य से पलायन करने वाले होते हैं।

प्राय: हम लोग डरे रहते हैं, अप्रकट भयों को ढोते हैं और भयभीत रहने के कारण हम उनसे दूर भागते हैं। तथ्य से दूर भागने में निहित है कि हम जिन चीज़ों से बच रहे होते हैं वे उस तथ्य से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाती हैं। यदि मैं भयभीत हूँ और मदिरा, मंदिर तथा ईश्वर या ऐसी ही चीज़ों के माध्यम से पलायन करता हूँ तो ईश्वर, मंदिर और मधुशाला मेरे लिये भय से अधिक महत्त्वपूर्ण बन बैठते हैं। मैं ईश्वर, मंदिर और मधुशाला का बचाव अधिक प्रबलतापूर्वक करता हूँ क्योंकि मेरे लिये वे ही अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं, वे ऐसे प्रतीक बन जाते हैं जो मुझे पक्का दिलासा देते हैं कि मैं भय से पलायन

कर सकता हूँ। ये मंदिर, ईश्वर, राष्ट्रवाद, राजनीतिक प्रतिबद्धता, और मेरे सिद्धांत-सूत्र—ये सब भय के निदान की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण बन बैठते हैं। अतः जब तक आप भय का सर्वथा समाधान नहीं कर लेते तब तक आप शायद समझ ही न पायें कि भय क्या है, प्रेम क्या है या दुख क्या है।

जो मन वास्तव में धार्मिक है, वास्तव में समाजहितैषी है, सृजनशील है, उसे सर्वथा व पूर्णतया भय की इस समस्या का अंत करना होगा, इसे समझना होगा, इसका निदान-समाधान ढूंढ़ लेना होगा। आप यदि किसी भी प्रकार के भय के साथ जी रहे हैं तो आप अपना जीवन व्यर्थ गवां रहे हैं क्योंकि भय आपके जीवन को अंधकारमय बना रहा है। मैं नहीं जानता कि आपने इस पर कभी ध्यान दिया है या नहीं कि जब आप किसी चीज़ से भयाक्रांत होते हैं तो आप पर क्या बीतती है। तब आपके सारे स्नायु व आपका हृदय—सब कुछ संकुचित, कड़ा, सख्त व त्रस्त हो जाता है। आपने क्या इस पर ध्यान दिया है? हममें शारीरिक भय ही नहीं है बल्कि मनौवैज्ञानिक भय भी है जो कहीं ज़्यादा है। शारीरिक भय अर्थात् आत्मरक्षा हेतु की गई शारीरिक प्रतिक्रिया तो स्वाभाविक है, प्राकृतिक है। जैसे, जब आप कोई सर्प देखते हैं तो तुरंत उससे दूर हट जाते हैं, कूद कर परे हो जाते हैं—यह एक प्राकृतिक, स्वाभाविक, आत्मरक्षात्मक भय है। वास्तव में यह कोई भय है ही नहीं, यह तो प्राणरक्षा हेतु की गई एक प्रतिक्रिया मात्र है। यह भय नहीं है। चूंकि आपने एक खतरा देखा, आप हट गये। हम इस शारीरिक भय की बात नहीं कर रहे हैं, बल्कि इससे भी कहीं अधिक बड़े भय की बात कर रहे हैं जिसे विचार ने रचा है।

हम भय के विषय पर चर्चा में आगे बढ़ रहे हैं। जब तक आप इसे कदम-दर-कदम नहीं समझ लेते तब तक आप इसका निदान-समाधान नहीं कर पायेंगे। हम भय के सीधे संपर्क में आ रहे हैं, न कि उस चीज़ के संपर्क में जिससे आप भयभीत हैं। जिस बात से आप भयाक्रांत हैं वह एक अवधारणा है, परंतु भय स्वयं में कोई अवधारणा नहीं होता। आप भले ही युवा हों या वृद्ध, अधिकांश लोगों की तरह आप भी सामाजिक टीका-टिप्पणी या मृत्यु से भयभीत रहते हैं। इससे कोई अंतर नहीं पड़ता कि कोई किस चीज़ से भयभीत है। आप अपना कोई उदाहरण ले सकते हैं। मृत्यु का उदाहरण लेते हैं—मैं मृत्यु से भयभीत हूँ। भय सदैव किसी न किसी चीज़ से जुड़ा रहकर ही अस्तित्व में रहता है। किसी चीज़ से जुड़े रहने के अतिरिक्त इसका कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं होता। मैं सामाजिक टीका-टिप्पणी से भयाक्रांत हूँ, मृत्यु से भयाक्रांत हूँ। मैं अंधेरे से, रोज़गार के छूटने से भयभीत रहता हूँ। इस प्रकार भय किसी न किसी चीज़ के संबंध में ही उपजता है।

मान लीजिये कि मैं मृत्यु से भयाक्रांत हूँ। मैंने मृत्यु देखी है। मैंने शवों को जलाये जाते देखा है। एक मृत पत्ती को मैंने वृक्ष से टूटकर जमीन पर गिरते देखा है। मैंने बहुत सी मृत चीज़ें देखी हैं। फिर भी मैं मरने से, अंत हो जाने से भयाक्रांत रहता हूँ। तो यह भय मृत्यु से, अकेलेपन से और अन्य अनेक चीज़ों से जुड़ा हुआ रहता है। तो मैं भय से वैसा ही सीधा संपर्क कैसे स्थापित कर सकता हूँ जैसा कि एक मेज़ से? मैं अपनी बात स्पष्ट

कर पा रहा हूँ न? भय के सीधे संपर्क में आने के लिये—और आशा करता हूँ कि केवल सुनने के बजाय आप इसे कर भी रहे हैं—भय के इस भाव, इस एहसास के सीधे संपर्क में आने के लिये कोई शब्द, कोई विचार या कोई अवधारणा बीच में बिलकुल नहीं आये, अर्थात् किसी व्यक्ति के संपर्क में आने के लिये मैं उसका हाथ छूता हूँ, उससे हाथ मिलाता हूँ, परंतु उसका हाथ अपने हाथ में लेने के बावजूद मैं उस व्यक्ति के सीधे संपर्क में नहीं आ सकता यदि मैं उसके बारे में कोई अवधारणा या कोई पूर्वाग्रह रखता हूँ अथवा उसे पसंद या नापसंद करता हूँ। उसका हाथ अपने हाथ में लेने के बावजूद वह छवि, वह अवधारणा, वह विचार मुझे उस व्यक्ति के सीधे संपर्क में आने से रोक देते हैं। इसी प्रकार अपने भय के सीधे संपर्क में आने के लिये आपको उस तक अपनी अवधारणा के साथ नहीं पहुंचना है—न तो चेतन रूप से और न ही अचेतन रूप से।

तो सबसे पहले हमें यह देखना होगा कि कोई अवधारणा हमें किसी से सीधे संपर्क में आने से रोकती कैसे है। यदि आप यह समझ लें कि यह अवधारणा ही हमें सीधे संपर्क में आने से रोकती है तो आप उस विचार से जूझना बंद कर देंगे। जब आप उस अवधारणा को—जो कि किसी राय, किसी सिद्धांत-सूत्र इत्यादि के रूप में होती है—जान-समझ लेते हैं तब आप भय के सीधे संपर्क में आ जाते हैं और तब भय से कैसा भी पलायन नहीं होता—न शब्दों के ज़रिये, न किसी निष्कर्ष, किसी राय या किसी भी अन्य माध्यम से। जब आप इस अर्थ में भय के संपर्क में आयेंगे तो आप पायेंगे कि भय पूरी तरह तिरोहित हो गया है। और मन के लिए हर प्रकार के भय से मुक्त होना ज़रूरी है—वह चाहे कोई प्रकट भय हो या अप्रकट, या कोई ऐसा भय जिससे आप अवगत हैं। तभी आप उस चीज़ को ध्यानपूर्वक देख पायेंगे जिसे दुख कहा जाता है।

जैसा कि आप जानते ही हैं, मनुष्य हजारों-लाखों वर्षों से दुख के साथ जीता आया है। आप इसके साथ रहे भी हैं और जिये भी हैं परंतु आप इसका कोई समाधान नहीं कर पाए हैं। या तो आपने संबोधि के साधन के रूप में दुख को पूजा है या फिर इससे पलायन करते रहे हैं। दुख को या तो हम प्रतीक-रूप में किसी व्यक्ति के साथ उसका तादात्म्य कर सिंहासन पर बिठा देते हैं, या कोई तर्क देते हुए दुख का औचित्य ठहराते रहते हैं, या फिर इससे पलायन किया करते हैं। परंतु फिर भी दुख तो बना ही रहता है।

दुख को मैं जिस अर्थ में ले रहा हूँ वह है किसी के खो जाने का दुख, विफलता का दुख, अपनी अक्षमता व असमर्थता को देखने से उपजा दुख, अपने हृदय को प्रेमशून्य पाकर और यह देखकर उपजा दुख कि हमने अपने इस भौंडे और क्षुद्र मन के साथ ही अपना पूरा जीवन गुज़ार दिया है। एक दुख वह होता है जो किसी ऐसे व्यक्ति को खो देने से होता है जिसे हम समझते हैं कि हम प्रेम करते हैं। इसी दुख में हम दिन रात घुलते रहते हैं, इससे पार कभी नहीं जा पाते तथा न ही कभी इसका अंत कर पाते हैं। तब दुख से दबा रहा मन असंवेदनशील हो जाता है, अपने ही खोल में बंद, उसमें न कोई स्नेह रह जाता है और न सहानुभूति। ऐसा मन सहानुभूति प्रकट तो कर सकता है, परंतु स्वयं में, अपने अंतरतम में वह सहानुभूति, स्नेह और प्रेम से शून्य रहने लगता है। और फिर दुख

के कारण व्यक्ति स्वयं पर तरस खाने लगता है। अधिकतर हम लोग जीवन भर यही बोझ उठाये जीते रहते हैं और इसका अंत कर पाने में स्वयं को समर्थ नहीं पाते हैं। एक और दुख होता है—समय का दुख। इस दुख का समाधान कर पाने में अक्षम होने के कारण हम लोग जीवन के अंत तक इसे ढोते रहते हैं। एक अन्य बड़ा भारी दुख है : किसी ऐसी चीज़ के साथ जीना जिसे आप समझ न सके हों और जो आपके मन को खाये जा रही हो, आपके जीवन को अंधकारमय बना रही हो। और फिर अकेलेपन का दुख भी है—पूरी तरह अकेला, बिना किसी साथी के, सभी संपर्कां से कटा होना, और यह दुख अंततोगत्वा एक असंतुलन की अवस्था, मानसिक रुग्णता अथवा मनोदैहिक रोगों की ओर ले जाता है।

दुख व्यापक है—केवल व्यक्ति का ही नहीं बल्कि एक नस्ल का दुख भी। आप दुख का समाधान करेंगें कैसे? आपको इसका हल वैसे ही करना है जैसे कि भय का। भविष्य कुछ नहीं होता—भले ही आप उसे गढ़ लें—परंतु जो व्यक्ति प्रज्ञापूर्वक जीता है, जो संवेदनशील है, जीवंत है, उत्सुक-उत्साही है, जो कोरा और निर्दोष है उसके लिये भविष्य जैसी कोई चीज़ नहीं होती।

तो दुख का अंत करने का अर्थ है आपको स्वयं पर तरस खाना छोड़कर, किसी अभिमत, किसी राय, किसी सिद्धांत-सूत्र तथा किसी भी व्याख्या में न खोकर उस विलक्षण अनुभूति के, दुख के सीधे संपर्क में—केवल सीधे संपर्क में उसी तरह आना जैसे कोई किसी मेज के संपर्क में आता है। परंतु लोगों को यही करना, अर्थात् विचारों को हटाकर सीधे संपर्क में आना, अत्यंत कठिन लगता है।

अब आती है मृत्यु की समस्या—मृत्यु की समस्या के साथ-साथ वृद्धावस्था की समस्या। आप सभी जानते हैं कि मृत्यु अपरिहार्य है—बुढ़ापा, रुग्णता अथवा दुर्घटना इसे ले ही आते हैं—यद्यपि वैज्ञानिक इस जीवन की आयु को और पचास या कुछ अधिक वर्षों तक बढ़ाने के लिये प्रयत्नशील हैं। भगवान ही जाने कि वे इस दर्द व तकलीफ भरे जीवन को और लंबा क्यों करना चाहते हैं। परंतु हम सभी चाहते तो यही हैं। अब मृत्यु को समझने के लिये हमें इसके संपर्क में आना होगा और इसके लिये एक ऐसे मन की आवश्यकता है जो भयग्रस्त न हो, जो समय के वशीभूत होकर न सोचता हो और जो समय के आयाम में न जीता हो।

हमने मृत्यु को जीवन के अंतिम छोर पर या कहीं उसके आस-पास रख दिया है—बहुत दूर। और फिर भी इसे जितना दूर कर सकें उतना दूर करने का प्रयास हम करते रहते हैं। हम जानते हैं कि मृत्यु निश्चित तो है ही, इसीलिये हमने इसके 'उपरांत' को रच डाला है। हम कहते हैं, "मैंने जीवन जिया है, एक चरित्र बनाया है, बहुत सारे कार्य किये हैं। तो क्या मृत्यु आने पर यह सब समाप्त हो जायेगा? इसके आगे भी कुछ होना तो चाहिये।" यह 'आगे कुछ', जीवनोपरांत जीवन, पुनर्जन्म—यह सब वर्तमान के तथ्य से, मृत्यु के संपर्क में आने के तथ्य से पलायन है।

अपने जीवन के बारे में सोचिये। यह क्या है? अपने उस जीवन को सचमुच देखिये

जिसे आप और भी दीर्घ करना चाहते हैं। आपका जीवन है क्या? अविराम युद्ध, एक अनवरत मरीचिका, सुख की कभी भूली-भटकी चमक, ऊब, दुख, भय, संताप, हताशा, ईर्ष्या, डाह, महत्त्वाकांक्षा—वास्तव में यही तो है आपका जीवन, और इसमें रुग्णता व क्षुद्रता शामिल हो जाते हैं। और आप इसे मृत्यु के उपरांत भी जारी रखना चाहते हैं।

यदि आप पुनर्जन्म में विश्वास करते हैं—और करते ही होंगे क्योंकि आपके ग्रंथ ऐसा कहते हैं—तो जो बात महत्त्व रखती है वह यह है कि आप वर्तमान में क्या हैं। क्योंकि जो कुछ आप आज हैं, वही आपके भविष्य को प्रभावित करने वाला है। इस प्रकार जो कुछ आप हैं, जो कुछ आप करते हैं, जो कुछ आप सोचते हैं, जो कुछ आप महसूस करते हैं, जिस तरह आप जीते हैं—यह सब आपके लिये बेहद अहमियत रखता है। और यदि आप पुनर्जन्म में विश्वास नहीं करते तो आपके लिये केवल यही जीवन बचता है। तब भी यह अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि आप क्या करते हैं, क्या सोचते हैं, क्या महसूस करते हैं, किसी का अनुचित लाभ उठाते हैं या नहीं उठाते, प्रेम करते हैं या नहीं, आप में भावना है या नहीं, आप संवेदनशील हैं या नहीं, आपमें सौंदर्य है या नहीं। परंतु ऐसा जीवन बिताने के लिये आवश्यक है कि आप मृत्यु को समझें, न कि उसे दूर, अपने जीवन के अंत में कहीं रख दें—अपने उस जीवन से दूर जो दुख का जीवन है, भय, हताशा और अनिश्चितता का जीवन है। अतः आपको मृत्यु को अपने बिल्कुल निकट लाना है—अर्थात मर जाना है।

क्या आप जानते हैं कि मरना क्या है? आपने अनेक मौतें देखी होंगी। आपने किसी को श्मशान की ओर ले जाते हुए देखा होगा जहां उसे राख या खाक कर दिया जाता है। आपने मृत्यु देखी है। अधिकतर लोग इससे भयभीत रहते हैं। मृत्यु तो ऐसी होती है जैसे वह पुष्प मर जाये या वह लता अपनी तमाम मॉर्निंग ग्लोरी के साथ मर जाये। वह लता उसी सौंदर्य तथा सौम्यता के साथ मर जाती है—बिना किसी पश्चात्ताप के और बिना किसी बहस के इसका अंत हो जाता है। लेकिन हम हैं कि समय के सहारे मृत्यु से पलायन करते रहते हैं—जैसे "अभी तो वह दूर है।" हम कहते हैं, "मेरे पास जीने के लिये अभी कुछ और साल पड़े हैं, और फिर मेरा पुनर्जन्म तो होना ही है" अथवा, "यह एक ही जीवन तो मुझे मिला है, और इसलिये मुझे इसका पूरा मज़ा ले लेने दो, पूरी मस्ती करने दो, पूरी तफ़रीह करने दो।" इस तरह, हम कभी उस अद्‌भुत चीज़ के संपर्क में नहीं आ पाते जिसे मृत्यु कहते हैं। अपने अतीत की हर बात के प्रति मर जाना, अपने सुखभोग के प्रति मर जाना—यही है मृत्यु।

क्या आपने कभी सही-गलत की बहस के बिना, किसी मान-मनौअल के बिना, विवश हुए बिना और आवश्यकता के बिना किसी सुख के प्रति मरकर देखा है? एक दिन तो आपको मरना ही होगा। परंतु क्या आपने आज ही अपने सुख के प्रति, अपनी स्मृति, अपनी घृणाओं, अपनी महत्त्वाकांक्षाओं व अपनी धनलोलुपता के प्रति सहज ही व प्रसन्नतापूर्वक मरकर देखा है? जीवन से आप जो कुछ चाहते हैं वह है धन, प्रतिष्ठा, शक्ति-अधिकार और दूसरों की डाह। आप क्या इस सब के प्रति मर सकते हैं? जिन

चीज़ों को आप जानते हैं उनके प्रति क्या आप सहज रूप से, बिना किसी वाद-विवाद के, बिना व्याख्या-विश्लेषण किये मर सकते हैं? कृपया ध्यान दीजिये, आप मात्र शब्द नहीं सुन रहे हैं बल्कि वास्तव में अपने किसी सुख के संपर्क में आ रहे हैं—उदाहरण के लिए सेक्स का सुख—और उसके प्रति मर रहे हैं। वैसे भी तो आपको यह करना ही पड़ेगा। आप एक दिन तो मरने जा रहे हैं—उस सब के प्रति जिसे आप जानते हैं, आपका तन, आपका मन, और वह सब कुछ जो आपने अर्जित किया है। तो आप कहते हैं, "क्या बस यही है सब कुछ? क्या मेरी ज़िंदगी का कुल सिला मौत ही है?" जो कुछ आपने किया है —नौकरी, पुस्तकें, ज्ञान, अनुभव, सुखभोग, स्नेह, परिवार—ये सभी मृत्यु का निवाला बन जाते हैं। यह तथ्य आपके सामने मुँह बाये खड़ा है। या तो उस सब के प्रति आप अभी मर जायें या समय आने पर आपको अपरिहार्य रूप से मरना ही होगा। केवल एक प्रज्ञावान व्यक्ति, जो इस संपूर्ण प्रक्रिया को समझ लेता है, सच्चे अर्थों में धार्मिक है।

जो व्यक्ति संन्यासी की वेश-भूषा धारण कर लेता है, दाढ़ी बढ़ा लेता है, मंदिर जाता है, परंतु जीवन से दूर भागता है, वह व्यक्ति धार्मिक नहीं है। धार्मिक व्यक्ति तो वह है जो प्रतिदिन मरता है और प्रतिदिन पुनः जन्म लेता है। उसका मन उत्साह से भरा, निर्दोष और कोरा रहता है। अपने दुख के प्रति मर जायें, अपने मनोसुख के प्रति मर जायें, उन बातों के प्रति मर जायें जो आपने औरों से छिपाकर अपने हृदय में संजो रखी हैं —करके देखें इसे—तब आप पाएंगे कि आप अपना जीवन व्यर्थ नहीं गवां रहे। तब आप पाएंगे कि कुछ ऐसा है जो अविश्वसनीय रूप से अद्‌भुत है, अपूर्व है। यह कोई पुरस्कार नहीं है—पुरस्कार जैसा कुछ नहीं होता है। आप स्वेच्छा से मरते हैं या आपको मरना ही पड़ता है। आपको सहज-स्वाभाविक रूप से मरना होगा—प्रतिदिन, जैसे कोई फूल भरपूर खिलकर मर जाता है अपने सौंदर्य के प्रति, वैभव के प्रति, ठीक वैसे ही आपको मरना होगा समस्त सौंदर्य व समृद्धि के प्रति, उस प्रेम, अनुभव और ज्ञान के प्रति। इस सब के प्रति दिन-प्रतिदिन मरते रहने से आपका हर दिन नया जन्म होता है और तब आपको मिल पाता है एक बिल्कुल कोरा, ताज़ा मन।

आपको ऐसे ही मन की ज़रूरत है, अन्यथा आप जान ही नहीं पायेंगे कि प्रेम क्या है। आप यदि इस तरह से मरते नहीं हैं तो आपका प्रेम एक स्मृति मात्र रह जाता है और तब वह डाह व ईर्ष्या के चंगुल में फंसा रहता है। आपको रोज़-ब-रोज़ उस प्रत्येक बात के प्रति मरना है जिसे आप जानते हैं—अपनी घृणा के प्रति, अपने अपमानों के प्रति, प्रशंसाओं के प्रति। इन सबके प्रति मृत हो जाएं और तब आप देखेंगे कि समय का अब कोई अर्थ नहीं है। तब कोई आने वाला कल नहीं है, केवल 'अब' विद्यमान है जो कल, आज और कल से परे है। और यह केवल 'अब' ही है जिसमें प्रेम का निवास है।

जिस व्यक्ति में प्रेम नहीं है वह सत्य तक नहीं पहुंच सकता। प्रेम के बिना आप चाहे कुछ भी कर लें—कितने भी त्याग-बलिदान करें, ब्रह्मचर्य का संकल्प लें, सामाजिक कार्य करें, उल्लेखनीय सफलताएँ प्राप्त कर लें—इनमें से किसी का भी कोई मूल्य नहीं होगा। और आप अपनी स्मृति के प्रति रोज़ाना मरे बिना प्रेम नहीं कर सकते, क्योंकि प्रेम

स्मृति के क्षेत्र में नहीं है, वह तो एक जीवंत अवस्था है। जो जीवंत है वह गतिशील होता है और उस गतिशीलता को शब्दों के, विचारों के या स्वकेंद्रित मन के पिंजरे में बंद नहीं किया जा सकता। केवल वही मन जान पाता है कि मृत्यु क्या है जिसने समय को समझ लिया है, जिसने दुख का अंत कर लिया है और जिसमें भय नहीं रह गया है। और इसीलिये ऐसे मन का जीना ही वस्तुतः जीना है।

बंबई,
24 फरवरी 1965

तेईस

ध्यान वह अवधान है जिसमें सजगता है, किसी पसंद-नापसंद के बिना सारी गतिविधियों के प्रति सजगता—कौए की कांव-कांव, लकड़ियों के लट्ठों को चीरती विद्युत आरा मशीन की आवाज़, पत्तियों का हौले-हौले हिलना, कलकल करती बहती जलधारा, किसी को पुकारता एक लड़का, भावनाएं, हेतु, प्रयोजन, एक दूसरे के पीछे दौड़ते व गहरे उतरते विचार, पूरी चेतना की सजगता। और इस अवधान के चलते, भविष्य के विस्तृत क्षेत्र में दौड़ता अतीत रूपी समय और चेतन मन की लपक-झपक, सब शांत व स्थिर हो जाते हैं। इस स्थिरता में एक अपरिमेय व अतुलनीय गति होती है, एक ऐसी गति जिसमें कोई नहीं होता—यही होता है आनंद का, मृत्यु का और जीवन का सार, एक ऐसी गति जिसका अनुसरण नहीं किया जा सकता क्योंकि उसका कोई मार्ग नहीं होता और चूंकि वह स्थिर व अचल रहती है अतः वह संपूर्ण गति का सार होती है।

वह सड़क पश्चिम की ओर जा रही थी, वर्षा-सिक्त घास के मैदानों के बीच से घुमाव लेती हुई, पहाड़ी के ढलान पर बसे छोटे-छोटे गांवों से गुज़रती हुई, स्वच्छ हिमजल की पर्वतीय जलधाराओं को पार करती हुई, तांबई मीनारों वाले चर्च के सामने से गुज़रती हुई यह सड़क घने तथा गुहामय बादलों और पर्वतों को अपने आगोश में लेती वर्षा में चलती चली गई थी। बूंदाबांदी शुरू हो गई थी। मंद गति से चलती कार की पिछली खिड़की से कभी-कभी पीछे देखने पर हमें वहां धूप से चमकते बादल, नीला आकाश और साफ़-सुथरे पर्वत दीख जाते थे, जहां से हम चले थे। हमें ऐसे ही कुछ लगा और हमने बिना कुछ बोले कार रोकी, पीछे की ओर घुमाई और प्रकाश व पर्वतों की ओर चल पड़े। वह सब अविश्वसनीय रूप से मनोरम था। और सड़क घूम कर ज्यों ही एक चौड़ी घाटी में पहुँची, हृदय जैसे थम गया। सब कुछ नितांत शांत था और यह शांति घाटी के एक छोर से दूसरे छोर तक पसरी हुई थी। यह सब पूरी तरह स्तब्ध था, विस्मयाभिभूत कर देने वाला। हम इस घाटी से पहले भी कई बार गुज़रे थे, पहाड़ियो की बनावट देखी-भाली थी, घास के मैदान और गांवों के घर जाने-पहचाने थे और जलधाराओं की कलकल भी वही पहले जैसी थी। सब कुछ वही था, बस मस्तिष्क वही नहीं था, यद्यपि कार वही चला रहा था। सब कुछ घनीभूत व स्तब्ध था मृत्यु की तरह। जो कुछ हुआ वह मन शांत होने के कारण या उस भूभाग की मनोरमता के कारण, बादलों पर पड़ती धूप की सुंदरता के कारण, या पर्वतों की अचल भव्यता के कारण नहीं हुआ था, इनमें से कोई इसका कारण नहीं था—हां, हो सकता है कि इन सभी ने इसमें अपना-अपना कुछ योगदान दिया हो। सही अर्थ में यह मृत्यु ही थी, सब कुछ एकदम थम गया था। कोई निरंतरता नहीं थी। मस्तिष्क कार चलाने के संदेश मात्र दे रहा था, बस। सचमुच ऐसा ही था। कार कुछ दूर तक चलती रही, फिर रुक गई। जीवन और मृत्यु वहां साथ-साथ थे—

निकटतम, घनिष्ठतम तथा अपृथक्करणीय—फिर भी दोनों में से किसी का कोई महत्त्व नहीं रह गया था। जैसे सब कुछ बह-ढह गया हो।

उस सब में कोई भ्रम या काल्पनिकता नहीं थी, वह सब इतना गहन-गंभीर था कि उसमें किसी प्रकार के मूढ़तापूर्ण मतिभ्रम की, किसी दिमागी खलल की कोई गुंजाइश नहीं थी, यह कोई खेल-खिलौना नहीं था। मृत्यु कोई साधारण घटना नहीं है, यह लौटा नहीं करती, इसके साथ कोई वाद-विवाद संभव नहीं होता। जीवन के साथ आप आजीवन वाद-विवाद कर सकते हैं, परंतु मृत्यु के साथ यह संभव नहीं। इतनी अंतिम और आत्यंतिक होती है यह। वह शरीर की मृत्यु नहीं थी—वह तो एक बिलकुल सरल व निर्णायक बात होती। मृत्यु के साथ जीना बिल्कुल भिन्न मामला था। जीवन भी वहां था और मृत्यु भी, वहां दोनों थे—अनम्य रूप से संयुक्त। वह मनौवैज्ञानिक मृत्यु भी नहीं थी, वह कोई ऐसा आघात भी नहीं था जिसने तमाम विचारों को, सारे एहसासों को बाहर धकेल दिया हो, वह कोई दिमागी खलल नहीं था, न ही मानसिक रुग्णता। ऐसा कुछ भी नहीं था, और न ही वह किसी थके-मांदे तथा व्यथित मस्तिष्क का विचित्र निर्णय था। ऐसा भी नहीं कि मृत्यु के लिये कोई अचेतन चाहना रही हो। ऐसा कुछ भी नहीं था क्योंकि वह सब तो अपरिपक्व होता, एक सरल आत्मप्रवंचना। पर वह तो एक भिन्न ही आयाम में था, कुछ ऐसा जिसने दिक्-काल की परिभाषा को झुठला दिया था।

यही था वह—मृत्यु का मूल, सारतत्त्व। स्व का सारतत्त्व है मृत्यु। परंतु यह मृत्यु तो जीवन का भी सारतत्त्व थी। वास्तव में वे दोनों—जीवन व मृत्यु—अलग अलग थे ही नहीं। यह कोई ऐसी अवस्था नहीं थी जिसे मस्तिष्क ने अपने सुख-चैन तथा वैचारिक सुरक्षा हेतु मायावी रूप से रच लिया हो। वहां जीना ही मरना था और मरना ही जीना। उस कार में, उस तमाम सौंदर्य और रंग के साथ, हर्षातिरेक की उस 'अनुभूति' के साथ मृत्यु प्रेम का, सर्वस्व का भाग बन गई थी। मृत्यु कोई प्रतीक, कोई अवधारणा या ऐसी कोई वस्तु नहीं थी जिसे मैं जानता था। यह वहां थी वास्तविक रूप में, तथ्यतः, वैसी ही प्रबल और दबंग जैसे हमसे आगे निकलने को आतुर और अधीर कार का हॉर्न। जैसे जीवन छोड़कर नहीं जाने वाला, उसे परे भी नहीं हटा सकते, वैसे ही मृत्यु अब कभी विदा नहीं होगी और न ही उसे दूर किया जा सकेगा। वह विद्यमान थी—एक अद्‌भुत प्रबलता लिए, सघनता लिए, पराकाष्ठा को छूती।

मैं सारी रात उसके साथ जिया, लगता था जैसे उसने मस्तिष्क और सामान्य कार्यकलाप पर कब्ज़ा कर लिया हो। मस्तिष्क में बहुत अधिक गतिविधियां नहीं चल रही थीं फिर भी उनके प्रति एक अनियत उदासीनता थी। उदासीनता तो पहले भी थी परंतु अब वह अतीत बन गई थी और समस्त सूत्र-नियम से परे हो गई थी। सब कुछ अत्यधिक सघन हो गया था—जीवन भी, मृत्यु भी।

जागने पर भी मृत्यु विद्यमान थी—दुखरहित परंतु जीवनसहित। वह एक अद्‌भुत प्रभात था। उसमें वैसी मांगलिकता विद्यमान थी, वैसा कृपाप्रसाद, जैसा पर्वतों में और पेड़ों में वास करता है।

दिन गुनगुना था, परंतु छाया भी खूब थी, चट्टानें अपने ठोसपन के साथ चमक रही थीं। चीड़ के पेड़ बिल्कुल हिल-डुल नहीं रहे थे जबकि ऐस्पन हवा के हल्के से झोंके से भी हिलने लगते थे। घाटी में सर्राटेदार पछुवा चल रही थी। चट्टानें इतनी जीवंत थीं कि वे बादलों के पीछे दौड़ती लग रही थीं और बादल भी उनसे सटकर चल रहे थे—चट्टानों के आकार और घुमावों के अनुरूप होते हुए वे उनके पास से मानो बह रहे हों। उन चट्टानों व बादलों को अलग-अलग करके देख पाना कठिन था। सारी घाटी चलायमान प्रतीत हो रही थी। जंगल तक पहुंच कर परे उतर जाने वाले छोटे व तंग रास्ते समर्पण करते हुए परंतु सजीव लग रहे थे। जीवंत हो उठे घास के मैदान एकांतप्रिय फूलों का बसेरा बन गये थे। परंतु आज सुबह तो घाटी पर चट्टानों का राज्य था, वे इतने रंगों की थीं कि चारों ओर रंग ही रंग था, नाना रूप और आकारों वाली वे चट्टानें आज सुबह बहुत सौम्य लग रही थीं। और वे प्रत्येक चीज़ के प्रति अत्यंत उदासीन थीं—हवा के प्रति, वर्षा के प्रति और मनुष्य की आवश्यकताओं के लिये होते विस्फोटों के प्रति। वे विद्यमान रही हैं और रहती रहेंगी—सदा-सर्वदा।

यह एक उजला प्रभात था, चारों ओर धूप खिली हुई थी, प्रत्येक पत्ती हौले-हौले हिल रही थी। कार में सैर पर जाने के लिये यह एक सुहानी सुबह थी—बहुत दूर तक नहीं, बस आस-पास की सुंदरता निहारने के लिये। यह एक ऐसा सबेरा था जिसे मृत्यु द्वारा नूतन कर दिया गया था—छीजन, रोग अथवा दुर्घटना वाली मृत्यु द्वारा नहीं बल्कि उस मृत्यु द्वारा जो नूतन सृजन हेतु विध्वंस करती है। कोई नूतन सृजन तब तक नहीं हो सकता जब तक मस्तिष्क द्वारा अपने अहंकेंद्रित अस्तित्व की सुरक्षा हेतु एकत्रित तमाम बातों का यह मृत्यु विध्वंस न कर दे। इससे पहले मृत्यु निरंतरता का ही एक नया स्वरूप हुआ करती थी, वह निरंतरता से जुड़ी रहती थी। मृत्यु के साथ एक नया अस्तित्व प्रकट होता था, एक नयी श्वास, एक नया जीवन। पुरातन का जाना होता था और नूतन का आना, और वह नूतन फिर एक और नूतन के लिये स्थान बना दिया करता था। नूतन अवस्था, नूतन खोज, जीवन की नूतन शैली, नूतन विचार के लिये मृत्यु माध्यम बन जाती थी। वह एक डराने वाला परिवर्तन होता था, परंतु वह परिवर्तन एक नयी आशा लेकर आता था।

परंतु अब मृत्यु कुछ भी नूतन लेकर नहीं आई थी, न तो नूतन क्षितिज, न नूतन श्वास। यह वह मृत्यु है जो परम व अंतिम होती है। इसके बाद कुछ नहीं रहता, न भूत, न भविष्य। कुछ भी नहीं। वहां किसी चीज़ का जन्म नहीं होता। फिर भी वहां न कोई हताशा होती है, न कोई चाहना रहती है। वहां तो पूर्णतया मृत्यु रहती है जो समय से परे रहा करती है और गहराइयों से झांक रही होती है। मृत्यु वहां रहती है परंतु उसमें न कुछ पुरातन होता है न नूतन। यह मृत्यु है—न इसमें मुस्कान होती है, न आँसू। यह कोई मुखौटा नहीं है जो किसी वास्तविकता को ढांप रहा हो, छुपा रहा हो। वह वास्तविकता ही मृत्यु है अतः इसे आवरण की आवश्यकता नहीं होती। मृत्यु ने सब कुछ पोंछ-पांछ कर साफ कर दिया है, कुछ भी नहीं छोड़ा है। यह कुछ-नहीं है उस पत्ती का नर्तन है, उस

बालक की किलकारी है। यह कुछ नहीं है और कुछ होना भी नहीं चाहिये। जो निरंतर है वह ह्रासमान है—एक यंत्र, एक अभ्यस्तता, एक महत्त्वाकांक्षा। उसमें विकृति है, मृत्यु में नहीं। मृत्यु सर्वथा कुछ-नहीं-पन है। यह होनी ही चाहिये क्योंकि इसी में से जीवन का, प्रेम का प्रादुर्भाव होता है, क्योंकि इस कुछ-नहीं-पन में ही सृजन होता है। आत्यंतिक मृत्यु के बिना सृजन संभव ही नहीं।

किसी निर्धारित सूत्र के बिना, किसी कारण व हेतु के बिना, किसी लक्ष्य व प्रयोजन के बिना किया गया ध्यान एक विस्मयकारी अद्‌भुत घटना होती है। यह एक ऐसा महाविस्फोट ही नहीं है जो विशुद्ध कर देता है, बल्कि वह मृत्यु भी है जिसमें कोई आने वाला कल नहीं होता। इसकी विशुद्धता सब कुछ विनष्ट कर देती है और कहीं ऐसे किसी कोने का अस्तित्व नहीं रह जाता जहां विचार अपनी ही अंधियारी परछाईं में छिप सके। इसकी विशुद्धता उन्मुक्त रहती है। यह विशुद्धता कोई ऐसा गुण नहीं होती जो प्रतिरोध के कारण अस्तित्व में आई हो। यह विशुद्ध है क्योंकि प्रेम की तरह ही इसमें कोई प्रतिरोध नहीं है। ध्यान में कोई आगामी कल नहीं होता, मृत्यु के साथ कोई वाद-विवाद नहीं होता। बीते हुए कल और आने वाले कल की मृत्यु समय के क्षणभंगुर आज में—और समय तो सदा क्षणभंगुर ही है—कुछ नहीं छोड़ती सिवाय उस विध्वंस के जिसमें से नूतन का उदय होता है। यही होता है ध्यान, न कि वह बेहूदा जमा-घटा जो कि मस्तिष्क सुरक्षा की तलाश में करता रहता है। ध्यान तो सुरक्षा का विध्वंसक है, इसीलिये तो ध्यान में बड़ा सौंदर्य होता है—मनुष्य या प्रकृति द्वारा रचित वस्तुओं का सौंदर्य नहीं अपितु मौन का, निःशब्दता का सौंदर्य। यही निःशब्दता वह शून्यता है, जिसमें और जिसमें से सभी वस्तुएं प्रकट होती हैं एवं अंतर्निहित रहती हैं। यह अविज्ञेय है। न तो बौद्धिकता और न ही भावुकता इस तक अपनी पहुँच बना सकती है। इस तक पहुँचने का कोई साधन नहीं है। इस तक पहुँचने की कोई भी पद्धति किसी लोलुप मन का ही आविष्कार होती है। हिसाब-किताब लगाने वाले इस अहं के सभी मार्ग व साधन पूरी तरह ध्वस्त कर दिये जाने चाहिए। आगे जाने वाला हो या पीछे जाने वाला—समय के सभी रास्ते खत्म हो जाने चाहिएं, आगामी कल बचना नहीं चाहिए। ध्यान ही ध्वंस है; यह उन लोगों के लिये खतरा है जो एक सतही जीवन जीना चाहते हैं, कल्पनाविलास या मिथक पर आधारित जीवन बिताना चाहते हैं।

बहुत सबेरे तारे बहुत चटकीले व चमकीले थे। पौ फटने में अभी देर थी। सब कुछ आश्चर्यजनक रूप से शांत था। यहां तक कि उद्दाम नदी भी नीरव थी, और पहाड़ियां मौन। एक पूरा घंटा उस अवस्था में गुज़र गया जब कि मस्तिष्क सुषुप्त नहीं था बल्कि जगा हुआ था, संवेदनशील था और बस देख रहा था। ऐसी अवस्था में मन की संपूर्णता अपने आप से भी पार जा सकती है और वह भी बिना निर्देशन के, क्योंकि वहां तब कोई निर्देशक रहता ही नहीं। ध्यान ऐसा झंझावात है जो ध्वंस करता चलता है, बुहारता चलता है। तब, बहुत दूर अरुणिमा दिखाई देने लगी थी। पूरब में प्रकाश फैलने लगा था—बिल्कुल तरुण और पीताभ, शांत और संकोची। वह उन सुदूर पहाड़ियों के पीछे से

फैलना शुरू हुआ और फिर इसने उत्तुंग पर्वतों और शिखरों को छू लिया। झुंडों में, और अकेले भी पेड़ शांत खड़े हुए थे। ऐस्पन वृक्ष में हलचल होने लगी थी और नदी प्रमुदित होकर शोर मचाने लगी थी। फार्म हाउस की वह पश्चिमोन्मुखी धवल दीवार और भी धवल हो गई थी। हौले-हौले, चुपचाप और अत्यंत विनम्रता के साथ वह प्रकाश आया और हर तरफ छा गया, हिमशिखर तब चटक गुलाबी होने लगे और प्रभातकालीन कलरव शुरू हो गया। तीन कौए आकाश में उड़े जा रहे थे, बिना बोले, एक ही दिशा में। कहीं दूर से गाय के गले में बंधी घंटी की आवाज़ आ रही थी, फिर भी सब कुछ एकदम शांत था। तब एक कार पहाड़ की चढ़ाई की ओर आती दिखाई दी और लगा कि दिन की शुरुआत हो गई है।

जंगल की उस डगर पर एक पीली पत्ती गिरी पड़ी थी। कुछ वृक्षों के लिये पतझड़ आ गया था। वह पत्ती अकेली थी और उस पर कोई दाग-धब्बा नहीं था, वह अमलिन थी, एकदम स्वच्छ। वह पतझड़ का पीलापन लिये हुए थी, मरकर भी वह सुंदर लग रही थी, किसी भी रोग से वह अनछुई थी। बसंत व ग्रीष्म अभी भरपूर थे, और उस पेड़ की सारी पत्तियां अभी हरी थीं। वह मौत थी अपने आब-औ'-रंग में, अपनी शान-औ'-शोहरत में। मृत्यु वहां उपस्थित थी, उस पीली पत्ती में नहीं बल्कि वह सचमुच वहां थी, किसी अपरिहार्य परंपरागत मृत्यु के रूप में नहीं बल्कि उस मृत्यु के रूप में जो सदा-सर्वदा रहती है। यह कोई काल्पनिकता नहीं थी बल्कि ऐसी वास्तविकता थी जिसे छुपाया नहीं जा सकता। यह हमेशा मौजूद रहती है, सड़क के हर मोड़ पर, हर घर में, हर देवी-देवता के साथ। यह अपनी पूरी सबलता और सुंदरता के साथ वहां विद्यमान थी।

आप मृत्यु से बच नहीं सकते। आप इसे भुला सकते हैं, इसे तर्कसंगत ठहरा सकते हैं अथवा यह विश्वास कर सकते हैं कि आपका पुनर्जन्म या मृतोत्थान होगा। आप चाहे कुछ भी कर लें—किसी मंदिर की शरण में चले जाएं या किसी ग्रंथ की, यह सदैव और सर्वत्र आपको मिल जायेगी—उत्सव में और स्वास्थ्य में। इसको जानने के लिये, आपको इसके साथ जीना होगा, यदि आप इससे भयाक्रांत रहते हैं तो आप इसे जान नहीं पायेंगे क्योंकि भय के कारण आप इसे साफ-साफ देख नहीं पायेंगे। इसे जानने के लिये आपको इससे प्रेम करना होगा। इसके साथ जीने के लिये आपको इससे प्रेम करना होगा। इसका ज्ञान हो जाना इसका अंत होना नहीं है। यह ज्ञान का अंत है, मृत्यु का नहीं। इससे प्रेम करना इससे सुपरिचित हो जाना नहीं है, आप विध्वंस से सुपरिचित नहीं हो सकते। आप किसी ऐसी चीज़ से प्रेम नहीं कर सकते जिसे आप जानते न हों—यद्यपि आप जानते कुछ भी नहीं हैं, किसी अजनबी को छोड़िये आप अपनी पत्नी और अपने हाकिम तक को नहीं जानते। लेकिन फिर भी आपको इससे प्रेम करना होगा, इस अजनबी से, इस अज्ञात से। आप उसी से प्रेम करते हैं जिसके बारे में आप निश्चित होते हैं, जो आपको सुख व सुरक्षा दे सकता है। आप अनिश्चित और अज्ञात से प्रेम नहीं करते। आप खतरों से प्रेम कर सकते हैं, किसी के लिये अपनी जान की बाजी लगा सकते हैं या अपने देश के लिये किसी दूसरे को जान से मार सकते हैं, परंतु यह प्रेम नहीं है। इन कामों के अपने लाभ हैं, पुरस्कार हैं। आप उपलब्धियों और सफलताओं से प्रेम करते हैं भले ही उनमें

कष्ट निहित हो। मृत्यु को जानने से कोई लाभ नहीं मिलता, पर आश्चर्यजनक बात यह है कि मृत्यु और प्रेम साथ-साथ रहते हैं, कभी अलग-अलग नहीं होते। बिना मृत्यु आप प्रेम नहीं कर सकते, बिना मृत्यु की मौजूदगी के आप किसी को गले नहीं लगा सकते। जहां प्रेम है, वहां मृत्यु भी है, ये दोनों अभिन्न हैं।

परंतु क्या हम जानते हैं कि प्रेम क्या है? आप सनसनाहट, भावुकता, इच्छा, भावना तथा विचार के तंत्र को तो जानते हैं, लेकिन इनमें से कोई भी प्रेम नहीं है। आप अपने पति व अपने बच्चों से प्रेम करते हैं और युद्ध से घृणा करते हैं, परंतु फिर भी युद्ध का आचरण और अभ्यास करते हैं। आपका प्रेम तो घृणा, डाह, महत्त्वाकांक्षा और भय को जानता है, परंतु इनसे उठता हुआ धुआं प्रेम नहीं है। आप अधिकार व शक्तिसंपन्नता तथा प्रतिष्ठा से प्रेम करते हैं परंतु अधिकार व शक्तिसंपन्नता तो बुराइयां हैं, ये भ्रष्ट करने वाली हैं। तो क्या हम जानते है कि प्रेम क्या है? इसको कभी न जान पाना इसका अचरज है, इसकी विलक्षणता है। कभी न जानने का अर्थ संदेह में रहना नहीं है, न ही इसका अर्थ हताशा है बल्कि यह तो विगत कल की मृत्यु है और इस तरह आने वाले कल को पूरी तरह अनिश्चित कर देना है। प्रेम में कोई निरंतरता नहीं होती, और न ही मृत्यु में। निरंतरता तो केवल स्मृति में और किसी फ्रेम में जड़े चित्र में होती है—यह सब यांत्रिक है, और फिर यंत्र भी तो घिस-पिट जाता है, फ्रेम में नया चित्र लगा दिया जाता है और नयी स्मृति शुरू हो जाती है। जिस चीज़ में भी निरंतरता है उसका सदैव अपक्षय होता है और जिसका अपक्षय हो वह मृत्यु नहीं है। प्रेम व मृत्यु अभिन्न हैं और ये जहां रहते हैं वहां सदैव ध्वंस होता रहता है।

कृष्णमूर्ति की नोटबुक से

गस्टाड,
23-31 अगस्त, 1964

चौबीस

देखिये, मैने मृत्यु के बारे में चर्चा की है ताकि आप इस पूरे प्रकरण को वस्तुतः समझ जायें—केवल इन क्षणों के लिये नहीं बल्कि जीवन भर के लिये—ताकि आप दुख से मुक्त हो सकें, भय से मुक्त हो सकें और वास्तव में यह जान सकें कि मरने का अर्थ क्या है। तो आज और आने वाले दिनों में यदि आपका मन पूर्णतः सजग, निश्छल व गहराई से अवधानयुक्त नहीं रहता है तो इन शब्दों का सुनना बिल्कुल निरर्थक हो जायेगा। परंतु आप यदि अपने विचारों और भावनाओं के प्रति सजग हैं, सचेत हैं, गहन अवधान में हैं, वक्ता द्वारा कही गयी बातों को अपना अर्थ नहीं देते बल्कि वह जब समस्या में पैठता है, चर्चा करता है, तो आप यथार्थ में स्वयं का अवलोकन करते चलते हैं, तब आप वास्तव में जीवन जी पाएंगे—न केवल जीवंत उल्लास के साथ, अपितु मृत्यु और प्रेम के साथ भी।

सानेन,
28 जुलाई 1964

❑❑❑